शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

सितम्बर : १९५७ ☆ वर्ष तेरहवाँ, आसोज ☆ अंक : ५

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

ज्ञान दीपक

जिसने ज्ञान को अंतर्मुख करके आत्मा में प्रकाश किया.. ज्ञान दीपक से आत्मा को प्रकाशित किया, वह जीव सचमुच 'धर्म दिवाकर' है; वहीं 'ज्ञान-दिवाकर' है; उसके आत्मा के असंख्य प्रदेशों में ज्ञान दीपक प्रगट हो गये हैं और अज्ञानांधकार का नाश हो गया है। अभी तो जिसे ज्ञान प्रकाशी आत्मा का भान भी नहीं है, आत्मा में ज्ञान दीपक प्रगट नहीं किया है—अज्ञान अंधकार का नाश नहीं किया है, वह 'धर्म दिवाकर' कैसा ? चिदानंद तत्त्व में सम्यक् श्रद्धा की चिनगारी द्वारा जिन्होंने अतीन्द्रियज्ञान से जगमगाते दीपक प्रगट किये—ऐसे धर्मात्मा ही वास्तव में 'धर्म दिवाकर' हैं।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१४९]

एक अंक
चार आना

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ सौराष्ट्र

— नया प्रकाशन —

मंगाने की शीघ्रता करें।

ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
सम्यग्दर्शन—दूसरी आवृत्ति	१ ॥=)
भेदज्ञानसार	२)
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें प्रथम भाग	१=)
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें दूसरा भाग	२)
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला भाग १—२	॥-) ॥-)
श्री लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका (तीसरी-आवृत्ति)	=)
जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह	१ ।=)
शासन प्रभाव	=)

पोस्टेज अलग

पता:—जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सुवर्णपुरी के समाचार—

पूज्य स्वामीजी द्वारा दसलक्षण पर्व दिनों में श्री पद्मनंदि पंचविशति शास्त्र में से उत्तम क्षमादि धर्म का महत्वपूर्ण विवेचन तथा आलोचना नामक अधिकार का भी संपूर्ण व्याख्यान हुआ। और सरस्वती (जिनवाणी) स्तवनरूप स्तोत्र पर भी व्याख्यान हुए थे, दस पर्यंत उपवास भी हुए हैं। श्री जिनमंदिर में समूह रूप में असाधारण-भव्यता से उत्साहपूर्वक पूजा, भक्ति होती थी। रथयात्रा के जुलूस भी दो बार निकले थे। जिससे अपूर्व प्रभावना हुई। भाद्रपद सुदी तीज के दिन दि० जैन विद्याथीगृह जो कि ८० हजार की लागत का नया सुंदर ढंग से बना है, उसका उद्घाटन राजकोट निवासी श्रीमान् मोहनलाल कानजी घीया के द्वारा हुआ है। विद्यार्थियों के ठहरने और भोजनादि का सुंदर प्रबंध देख कर आगंतुक अतिथि बहुत प्रसन्न हुए थे।

आत्मधर्म

सितम्बर : १९५७ ☆ वर्ष तेरहवाँ, आसोज ☆ अंक ५

जिनशासन की महिमा

[५]

[श्री भावप्राभृत गाथा ८३ के मुख्य प्रवचन]

अहो! एक तो समयसार की पन्द्रहवीं गाथा और दूसरी यह भावप्राभृत की ८३ वीं गाथा;—इनमें आचार्यदेव ने समस्त जैनशासन का सत्त्व भर दिया है। इन दो गाथाओं का रहस्य (गुरुगम से) समझ ले तो सभी प्रश्नों का निराकरण हो जाये।

भगवान की वाणी जीवों की भलाई के लिये ही है। जिज्ञासु-आत्मार्थी तो ऐसा विचार करता है कि अहो! 'पुण्य, वह धर्म नहीं है'—ऐसा कहकर भगवान मुझे राग से भी पार मेरा चैतन्यस्वभाव बतलाकर उसका अनुभव कराना चाहते हैं। इसप्रकार स्वभावोन्मुख होकर वह अपना हित साधता है। (-पूज्य गुरुदेव)

यह भावप्राभृत की वचनिका हो रही है। ८२ वीं गाथा में जैनधर्म की श्रेष्ठता बतलाकर आचार्यदेव ने कहा है कि हे जीवो! तुम जिनशासन में कहे हुए वीतरागभावरूप धर्म को जानकर चतुर्गति के भव के अभाव के लिये उसी की भावना करो... ऐसे जिनधर्म को ही उत्तम और हितकारी जानकर उसका सेवन करो और राग की रुचि छोड़ो... पुण्य की रुचि छोड़ो... जिससे तुम्हारे भव का अंत आये और मोक्ष हो।

जैनधर्म को ही श्रेष्ठ कहा; वह जैनधर्म कैसा है?—कि भावी भव का नाश करके मुक्ति

देनेवाला है। आत्मा के ऐसे परिणाम कि जिनसे संसार का नाश हो, उसका नाम जैनधर्म है और वह श्रेष्ठ-उत्तम है। इसलिये भावी-भव का मंथन करने के लिये हे जीव! तू ऐसे जैनधर्म की रुचि कर... आत्मस्वभाव के आश्रय से शुद्धभाव प्रगट कर।

जिन शासन में धर्म का स्वरूप

अब, जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि प्रभो! आपने जैनधर्म को उत्तम कहा और उसकी भावना करने को कहा; तो उस धर्म का स्वरूप क्या है? जैनधर्म की श्रेष्ठता कही तो उसका स्वरूप क्या? जिसके अंतर में धर्म का स्वरूप जानने की जिज्ञासा जागृत हुई है, जिसे धर्म की आकांक्षा है—अभिलाषा है, ऐसा जीव विनयपूर्वक पूछता है कि हे नाथ! जैनधर्म का सच्चा स्वरूप क्या है—वह कृपा करके समझाओ।

ऐसे जिज्ञासु जीव को समझाने के लिये आचार्यदेव ८३ वीं गाथा में जैनधर्म का स्वरूप कहते हैं—

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो॥८३॥
पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनैः शासने भणितम्।
मोह-क्षोभविहीनः परिणामः आत्मनः धर्मः॥८३॥

जिन शासन में जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है कि पूजादिक में तथा व्रत सहित हो, वह तो पुण्य है, और आत्मा के मोह-क्षोभ रहित परिणाम, वह धर्म है।

देखो, यह गाथा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पुण्य एवं धर्म दोनों का पृथक्-पृथक् स्वरूप बतलाकर आचार्यदेव ने स्पष्ट किया है कि शुभराग, वह जैनधर्म नहीं है; शुभराग द्वारा जैनधर्म की महिमा नहीं है; जिनशासन में व्रत-पूजादि के शुभराग को भगवान ने धर्म नहीं कहा, किन्तु उसे पुण्य कहा है; और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धपरिणाम को ही जिनशासन में भगवान ने धर्म कहा है, उसी से जिनशासन की महिमा है।

लौकिकजन

जैनधर्म के नाम से भी अनेक लोग पुण्य को धर्म मानते हैं। शुभराग करते-करते धर्म होगा—ऐसा मानते हैं, अर्थात् राग द्वारा जिनशासन की महिमा मानते हैं। उसका यहाँ आचार्यदेव स्पष्टीकरण करते हैं कि अरे भाई! जिनेश्वरदेव ने तो जिनशासन में उस राग को धर्म नहीं कहा है।

लोकोत्तर ऐसा जो जैनमार्ग उसमें तो व्रत-पूजादि के शुभराग को पुण्य कहा है—उसे धर्म नहीं कहा; किन्तु लौकिक जन उसे धर्म मानते हैं। भावार्थ में तो पंडित जयचन्द्रजी ने—(डेढ़ सौ वर्ष पहले) व्रत-पूजादिक को जो धर्म मानते हैं, उन्हें स्पष्टतया लौकिक जन तथा अन्यमती कहा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव ही धर्म है, वही भव के नाश का कारण है तथा उसी से जिनशासन की श्रेष्ठता है।

शुद्धात्मा के अनुभव में जिनशासन

अज्ञानी पुकार करते हैं कि क्या पुण्य, वह जैनधर्म नहीं है ?—तो यहाँ नि:शंकरूप से कहते हैं कि नहीं; राग-द्वेष-मोह रहित शुद्ध परिणाम ही जैनधर्म है। आचार्यदेव ने समयसार की १५ वीं गाथा में भी स्पष्ट कहा है कि—जो शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वह समस्त जिनशासन की अनुभूति है। अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष तथा असंयुक्त—ऐसे स्वभावरूप शुद्ध आत्मा को जो देखता है, वह समस्त जिनशासन को देखता है।—बस! शुद्धात्मा के अनुभव में समस्त जिनशासन आ गया ?—हाँ, उसी में जिनशासन आ गया और उसी में जैनधर्म का समावेश हो गया।

अहो, एक तो समयसार की १५ वीं गाथा और दूसरी यह भावप्राभृत की ८३ वीं गाथा—इनमें तो आचार्यदेव ने समस्त जैनशासन का सार भर दिया है। इन दो गाथाओं का रहस्य समझले तो सभी प्रश्नों का निराकरण हो जाये। इनमें अलौकिक भाव भरे हैं।

अरे, आजकल तो 'जैन' कुल में जन्म लेनेवालों को भी जैनधर्म के स्वरूप की खबर नहीं है; बाह्य क्रिया में या पूजा-व्रतादि के शुभराग में ही धर्म मान बैठे हैं; परन्तु वह कहीं जैनधर्म का स्वरूप नहीं है। इसलिये आचार्यदेव ने यह गाथा रखकर स्पष्टीकरण किया है कि व्रत-पूजादि का शुभराग, वह जैन धर्म नहीं है; जैनधर्म तो मोह-क्षोभ रहित ऐसा वीतरागभाव है। इसे समझे बिना 'हमारा जैनधर्म ही ऊँचा है'—ऐसा भले कहे; किन्तु भाई! पहले तू स्वयं तो जैनधर्म का स्वरूप समझ! जैनधर्म की श्रेष्ठता किस प्रकार है, उसे जानकर ग्रहण करे तो तेरा हित हो।

जिनशासन में जिनवरों ने ऐसा कहा है—

आचार्यदेव, तीर्थंकर भगवन्तों की साक्षी देकर कहते हैं कि—'जिनै: शासने भणितं' अनंत तीर्थंकर जिनशासन में हुए हैं; वर्तमान में भी पंच विदेहक्षेत्र में सीमंधर भगवान आदि बीस तीर्थंकर विराजमान हैं; उन तीर्थंकर भगवन्तों ने जिनशासन में ऐसा कहा है;—

क्या कहा है ?—कि—'पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि' पूजादिक में और व्रतसहित हो तो

वह पुण्य है। तो फिर भगवान ने धर्म किसे कहा है? कि 'मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनः धर्मः' मोह-क्षोभरहित आत्मा के परिणाम, वह धर्म है—ऐसा जिनेन्द्र भगवंतों ने जिनशासन में कहा है। इससे दूसरे प्रकार माने अर्थात् राग को-पुण्य को धर्म माने, तो वह भगवान के जिनशासन का स्वरूप नहीं समझा है।

धर्मी के व्रत पुण्य हैं या धर्म?

यहाँ व्रतसहित को भी पुण्य कहा है; उसमें व्रत कहने से श्रावक के अणुव्रत और मुनियों के महाव्रत—दोनों आ जाते हैं। सच्चे व्रत तो सम्यग्दर्शन के पश्चात् पाँचवें-छट्ठे गुणस्थान में ही होते हैं। अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि को सच्चे व्रत नहीं होते। अज्ञानी को तो धर्म का भान नहीं है; किन्तु सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को भी व्रतादि की जो शुभवृत्ति उठे, वह पुण्यबंध का कारण है, वह धर्म नहीं है। जितना अरागभाव (सम्यग्दर्शनादि) वर्तता है, उतना धर्म है, वह जिनशासन है; और जो व्रतादि का राग रहा है, वह धर्म नहीं है किन्तु पुण्य है; पुण्य को जिनशासन में धर्म नहीं कहा है; मोह-क्षोभरहित जो शुद्ध चैतन्य परिणाम, उसी को धर्म कहा है।

भाई, हृदय को स्वस्थ रखकर शांतिपूर्वक सुन!

छट्ठे गुणस्थान में भावलिंगी संत मुनि को पंच महाव्रत की जो शुभवृत्ति उठे, वह भी धर्म नहीं है;—यह बात सुने वहाँ अज्ञानी तो भड़क उठता है। उसे राग की रुचि है, इसलिये वह भड़क उठता है। किन्तु भाई! तू धीरज रख... हृदय स्वस्थ रखकर शांतिपूर्वक यह बात सुन! राग से पार चैतन्य तत्त्व क्या वस्तु है, उसकी तुझे खबर नहीं है और तूने राग को ही धर्म माना है। किन्तु भाई, राग तो तेरे वीतरागी चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध भाव है, उसमें तेरा धर्म कैसे हो सकता है? पंच महाव्रत की वृत्ति के समय भी मुनियों के अंतर में उस वृत्ति से पार ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता से जितना मोह का तथा राग का अभाव हुआ है, उतना ही धर्म है; वह मोक्ष का कारण है; और जो राग रहा है, वह धर्म नहीं है।

जिन्हें आत्मा के अमृत के स्वाद की खबर नहीं है—ऐसे अज्ञानी, विष के घड़े को अमृत का घड़ा मानते हैं।

अज्ञानी को तो धर्म का अंश भी नहीं है; वह शुभराग से व्रतादि का पालन करे तो वह पुण्य का कारण है; समयसार में तो उसे विषकुम्भ अर्थात् विष का घड़ा कहा है। और सम्यक्त्वी को अंशतः वीतरागभावरूप सम्यग्दर्शनादि धर्म प्रगट हुआ है तथापि, उसे भी व्रत-पूजादि का जो

शुभराग है, वह तो पुण्य का ही कारण है; और समयसार में तो उसे भी निश्चय से विष-कुम्भ कहा है; शुद्ध आत्मा के अनुभव को ही अमृत-कुम्भ कहा है।

जिस शुभरागरूप प्रतिक्रमणादि को व्यवहार शास्त्र अमृत कहते हैं, उसे समयसार-मोक्ष अधिकार में निश्चय से विष कहा है। अर्थात् क्या ?—कि जिसे आत्मा के चिदानन्दी स्वभाव का भान हुआ है, अतीन्द्रिय अमृत का अनुभव हुआ है, किन्तु अभी जब तक, उसमें लीन होकर स्थिर नहीं हुआ, तब तक बीच में जो व्यवहार-प्रतिक्रमणादि का शुभराग आता है, वह निश्चय से विष-कुम्भ है; क्योंकि उसमें आत्मा का निर्विकल्प अमृत लुटता है। देखो, यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव की वाणी है; उनकी तो रचना ही अद्‌भुत है! व्यवहार करते-करते धर्म हो जायेगा—ऐसा मानकर जो राग की मिठास का वेदन करता है, वह जीव विष के स्वाद में मिठास मानता है; उसे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरूप अमृत की खबर नहीं है।

मोक्ष अधिकार में शिष्य पूछता है कि प्रभो! आप तो पहले से शुद्ध आत्मा का अवलम्बन करना ही बतलाते हैं, किन्तु वहाँ तक तो हम नहीं पहुँच सकते; इसलिये पहले तो हमें यह शुभरागरूप व्यवहार ही करने दीजिये! व्यवहार करते-करते शुद्ध-आत्मा के आनन्दानुभवरूप अमृतपद प्राप्त हो जायेगा! इसलिये हमें तो व्यवहार ही अमृत का घड़ा है।

वहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! तेरा माना हुआ व्यवहार तो मात्र विष का ही घड़ा है; उसे तो हम व्यवहार से भी अमृत नहीं कहते। अन्तर्मुख होकर रागरहित शुद्ध आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हो, वह साक्षात् अमृतकुम्भ है—वही निश्चय से अमृत है। और उसके लक्षपूर्वक व्यवहार प्रतिक्रमणादि का जो शुभभाव धर्मी को आता है, उसे व्यवहार से अमृत कहा है, तथापि निश्चय से तो वह भी विषकुम्भ ही है। जिसे आचार्यदेव ने विष कुम्भ कहा, उसे जैनशासन कैसे कहा जा सकता है ? राग, वह जैनशासन नहीं है। जैनशासन कहो, जिनेन्द्रदेव का उपदेश कहो, या भगवान की आज्ञा कहो;—राग करने की आज्ञा वीतरागभगवान की कैसे हो सकती है ? वीतरागभगवान राग को धर्म कैसे कह सकते हैं ? जिनशासन में कहीं भी भगवान का ऐसा उपदेश नहीं है कि—राग से धर्म होता है। वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी आचरणरूप शुद्धभाव को ही जिनशासन में भगवान ने धर्म कहा है और वही भावी-भवभंजक है; पुण्य में भावी-भव का भंजन करने की शक्ति नहीं है।

जिनशासन का सर्व उपदेश हित के लिये ही है; ऊपर चढ़ने के लिये है—गिरने के लिये नहीं!

जिनशासन उसे कहा जाता है कि जिसे क्षणमात्र के सेवन से अवश्य मोक्ष की प्राप्ति हो, अर्थात् जीव का परम हित हो। भगवान का उपदेश जीवों की भलाई के लिये है। 'पुण्य, वह धर्म नहीं है; पुण्य से धर्म नहीं होता'—ऐसा जो जिनेन्द्रभगवान का उपदेश है, वह भी जीवों की भलाई के लिये ही है। पुण्य से धर्म नहीं होता, इसलिये ऐसा नहीं कहते कि पुण्य को छोड़कर पाप में जाना चाहिये,—नीचे गिरने को नहीं कहते; किन्तु पुण्य, वह धर्म नहीं है—ऐसा कहकर रागरहित चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करने को कहते हैं अर्थात् ऊपर उठाते हैं।—इसप्रकार संसारमार्ग से छुड़ाकर मोक्षमार्ग में ले जाने के लिये भगवान का उपदेश है; अहितमार्ग से छुड़ाकर हितमार्ग में लगाने का भगवान का उपदेश है। तथापि उसका विपरीत अर्थ लेकर 'पुण्य, वह धर्म नहीं है; इसलिये पुण्य छुड़ाकर पाप करने को कहते हैं'—ऐसा जो मानता है, वह तो महान स्वच्छन्दी अनंत संसार में परिभ्रमण करनेवाला है; उसमें भगवान का उपदेश सुनने की योग्यता भी नहीं है। भगवान की वाणी तो जीवों के हित के लिये ही है—धर्मवृद्धि के लिये ही है; जीवों को संसार से छुड़ाकर मोक्ष में ले जाने के लिये ही भगवान का सर्व उपदेश है। जिज्ञासु-आत्मार्थी तो ऐसा विचार करता है कि 'अहो! पुण्य, वह धर्म नहीं है'—ऐसा कहकर भगवान मुझे राग से भी पार मेरा चैतन्यस्वभाव बतलाकर उसका अनुभव कराना चाहते हैं। इस प्रकार स्वभावोन्मुख होकर वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करके वह अपना हित साधता है।

हित करना हो तो उसका उपाय जानो!

यहाँ आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि—जो रागरहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव है, वही जिनशासन है; और राग वास्तव में जैनशासन नहीं है; अर्थात् अपनी स्वभावोन्मुखता से जो शुद्ध परिणाम हुए, उसी में तेरा हित है—राग में हित नहीं है। प्रारम्भ में ही सर्वथा राग दूर नहीं हो जाता, धर्मी को भी राग तो होता है; किन्तु प्रथम ऐसी पहिचान करना चाहिये कि यह राग मेरे स्वभाव से भिन्न जाति का है, उसमें मेरा हित नहीं है; मेरा हित तो सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव में ही है।—इसप्रकार बराबर समझे तो शुद्धभाव प्रगट करने और राग को टालने का उद्यम करे; किन्तु राग को ही हितरूप मान ले तो वह उसे टालने का उद्यम किसलिये करेगा? इसलिये हे भाई! तेरा हित कहाँ है, वह तो निश्चित कर! हित का उपाय जाने बिना, अनादि से अहित को ही हित मानकर

उसका सेवन किया है, किन्तु अभी तक किंचित् हित नहीं हुआ है, इसलिये यहाँ संत हित का सच्चा उपाय बतलाते हैं।

'हितोपदेश' जिनशासन में ही है

हित का सच्चा उपाय जिनशासन में ही है। हित का कारण जो शुद्ध रत्नत्रय, उसका यथार्थ उपदेश जिनशासन में ही है और इसीलिये जिनशासन की श्रेष्ठता है। साधारणत: दया-दानादि पुण्य का उपदेश तो सभी देते हैं किंतु वह कहीं हितोपदेश नहीं है। जिनशासन में आत्मा का ज्ञान-आनंद से परिपूर्ण स्वभाव बतलाकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान तथा उसमें लीनता करने का उपदेश है और वही सच्चा हितोपदेश है। पुण्य का शुभराग भी चारित्रमोह का प्रकार है; उस मोह में हित कैसे होगा ?—वह धर्म कैसे हो सकता है ?—उसे जैनशासन कैसे कह सकते हैं ? जिनशासन में तो मोह रहित शुद्धात्मपरिणाम को ही धर्म कहा है; उसी में हित है और वही जिनशासन है।

[क्रमश:]

सम्यक्त्व की महिमा सूचक प्रश्नोत्तर

प्रश्न—किसे धन्य है ?

उत्तर—(दोहा) - धन्य अहो ? भगवंत बुध, जो त्यागे परभाव;
लोकालोक प्रकाश कर, जाने विमलस्वभाव।

—अहो! उन भगवान ज्ञानियों को धन्य है कि जो परभाव का त्याग करते हैं और लोकालोक प्रकाशक ऐसे निर्मल आत्मा को जानते हैं।

(—योगसार ६४)

मोक्षमार्गी मुनि कैसे होते हैं ?

और

श्रावकों का कर्तव्य क्या है ?

[मोक्षप्राभृत गाथा ८० से ८६ के प्रवचनों से]

अहो! मोक्ष के साधक मुनिवर जगत से एकदम निस्पृह होते हैं; वे वीतरागी संत अंतर में एकाग्र होकर आत्मा के आनन्द का अनुभव करने में ऐसे लीन हैं कि शरीर को वस्त्र से ढँकने तथा उद्दिष्ट अहार लेने की वृत्ति ही उन्हें नहीं होती।—ऐसे ही मुनि मोक्षमार्गी हैं। इसके अतिरिक्त जिन्हें अंतर में चैतन्य की ध्यानदशा नहीं हुई है और शुभराग में ही धर्म मानकर वर्त रहे हैं—ऐसे द्रव्यलिंगी मुनियों को मोक्षमार्ग में स्वीकार नहीं किया जाता।

हे श्रावक!

सम्यग्दर्शन को मेरुगिरिवत निश्चल धारण करके उसे ध्याओ! सिद्धिकर ऐसे सम्यक्त्व को जिसने स्वप्न में भी मलिन नहीं किया, वह धन्य है... शूरवीर है... कृत्यकृत्य है... पण्डित है... इसप्रकार सम्यक्त्व की परम महिमा जानकर उसे अंगीकार करो!

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस मोक्षप्राभृत में मोक्षमार्गी मुनिवरों की दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—प्रथम तो मोहरहित भाव निर्ग्रन्थता होती है और बाह्य में भी वस्त्रादि रहित निर्ग्रन्थदशा होती है। मोक्षमार्गी संतों को ज्ञान-आनन्दस्वभाव के अनुभवसहित उसमें इतनी उन्मुखता हो गई है कि वे महान अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में लीन हैं; वहाँ बाह्य लौकिक कार्यों की तो वृत्ति ही नहीं उठती। मैं तो एकाकी ज्ञानस्वभाव हूँ, इसके अतिरिक्त तीनलोक में कुछ भी मेरा नहीं है—ऐसे अंतर अनुभवपूर्वक अंतर के एकाकी आत्मा में लीन होकर उसमें रमणता करते हैं, आतमराम में रमणता करते हैं और प्रतिक्षण निर्विकल्प आनन्द में लीन होते हैं।—ऐसी मोक्ष के साधक मुनियों की दशा होती है।

मैं तो आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण एकाकी आत्मा हूँ; ज्ञान-आनन्दमय आत्मा के अतिरिक्त बाह्य में अन्य कुछ भी मेरा नहीं है—ऐसी श्रद्धा-ज्ञान के उपरांत बारम्बार उसकी भावना करके

उसमें लीनता का प्रयत्न करते हैं।—ऐसे योगी मुनिवर, शाश्वत सिद्धसुख को प्राप्त करते हैं। पहले जिसे कभी प्राप्त नहीं किया था—ऐसे पूर्णानन्द को प्राप्त होते हैं। पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर एकाकी चिदानन्दस्वभाव में जिसने उपयोग को लगाया, वही सच्चा योगी है। एकत्व आत्मा में उपयोग को एकाग्र करके मुनि उसकी भावना करते है; ज्ञानानन्दस्वरूप की गहराई में उतरकर बारम्बार निर्विकल्प शांति में लीन होते हैं—ऐसे मुनिवर मोक्ष के साधक हैं। जो अंतर के चिदानन्दस्वरूप में एकाग्रता नहीं करते, उसकी भावना नहीं करते, और बाह्य में मुनि-वेष धारण करके भी लौकिक कार्यों में आरम्भ-समारम्भ में वर्तते हैं, उद्दिष्ट आहार करते हैं, वे तो मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हैं। यहाँ तो मोक्षमार्ग में कैसे मुनियों का ग्रहण है—कैसे मुनि मोक्षमार्गी हैं—उसकी बात है।

अहो, मोक्ष के साधक वीतरागी संत तो जगत से एकदम निस्पृह होते हैं; देह से भी ऐसे निस्पृह हैं कि वस्त्र से शरीर ढँकने की वृत्ति ही नहीं उठती; प्राण चले जायें तथापि उद्दिष्ट आहार ग्रहण नहीं करते; अंतरंगस्वभाव में एकाग्र होकर आनन्दानुभव में लीन हैं और फिर मोक्ष प्राप्त करके सदैव पूर्ण आनन्द में ही लीन रहते हैं।

मोक्ष के साधक मुनि मुख्यरूप से तो एकाकी वन-जंगल में रहकर एकाकी ज्ञानानन्दस्वरूप की भावना में ही लीन हैं; और अभी किंचित् राग शेष है, इसलिये शुभवृत्ति उठने पर सर्वज्ञदेव की भक्ति, गुरु की भक्ति, संसार के प्रति वैराग्य का चिंतन, मोक्षमार्ग के प्रति उत्साह - इत्यादि भाव आते हैं। मुनि स्वयं तो छट्ठे-सातवें गुणस्थान में हैं और सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा तेरहवीं-चौदहवीं भूमिका में विराजमान हैं, इसलिये उन पूर्ण परमात्मा के प्रति मुनि को भक्ति का भाव आता है, तथा मोक्ष के साधक ऐसे गुरु के प्रति भी भक्ति-वन्दना का भाव आता है; और बारम्बार वैराग्यभावना भाते हैं तथा ध्यान में रत हैं और सम्यक्चारित्र में उद्यत हैं—ऐसे मुनि मोक्षमार्ग के अधिकारी हैं। जिसे अंतर में चैतन्य की ध्यानदशा नहीं हुई है और मात्र शुभराग में वर्तता है—ऐसे द्रव्यलिंगी मुनि को मोक्षमार्ग में स्वीकार नहीं किया जाता; वह तो बंधमार्ग में ही स्थित है, संसारमार्ग में ही है। एकाकार चैतन्यस्वरूप क्या है—उसका जिसे सम्यक् भान भी नहीं है, उसे उसमें एकाग्रतारूप ध्यान नहीं होता और चैतन्य के ध्यान बिना मुनिदशा नहीं होती। चैतन्य की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान करके, फिर संसार से अत्यन्त विरक्त होकर, जो चैतन्य की पूर्णता को साधने निकले हैं—ऐसे मुनिवर उपयोग को बारम्बार अंतर में एकाग्र करके आत्मध्यान करते हैं, इसलिये वे आत्मध्यान में तत्पर हैं, बारम्बार अतीन्द्रिय आनन्द के सागर में डुबकी मारते हैं;—ऐसी दशावाले मुनि ही मोक्ष

प्राप्त करते हैं; इसलिये उन्हीं का मोक्षमार्ग में ग्रहण है। इसके अतिरिक्त जिन्हें आत्मा का भान नहीं है, जो पंच महाव्रतादि शुभराग को धर्म मानते हैं अथवा वस्त्रसहित मुनिदशा मानते हैं—उन किसी का मोक्षमार्ग में ग्रहण नहीं है, उन्हें वास्तव में मुनिदशा नहीं है।

प्रत्येक आत्मा अपनी भिन्न चैतन्यसत्ता से परिपूर्ण और आनन्द से भरपूर है; उसके स्वसंवेदन अनुभव द्वारा प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। वहाँ आत्मज्ञान होने पर भी अभी तीनकाल - तीनलोक का पूर्ण ज्ञान नहीं है और न पूर्ण आनन्द है। उस पूर्ण ज्ञान-आनन्द की साधना के लिये अंतर के ज्ञानानन्दस्वभाव में लीन होने का प्रयत्न करते हैं और बारम्बार उसमें लीन होते हैं—ऐसे मुनि मोक्षमार्गी हैं। जब स्वरूप में अत्यन्त लीन हो जाते हैं, तब रागादि सर्वथा दूर होकर सर्वज्ञता एवं पूर्ण आनन्दरूप परमात्मदशा प्रगट होती है, आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है। प्रत्येक आत्मा में ऐसी परमात्मा होने की शक्ति है; किन्तु उसे पहिचानकर जब उसमें लीन हो, तभी परमात्म दशा प्रगट होती है।

निश्चनयनय द्वारा आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसा जानें और फिर आत्मा के लिये स्वयं अपने स्वभाव में भलीभाँति लीन हों—ऐसे आत्मध्यानी मुनिवर सम्यक्चारित्रवान होते हुए मुक्ति प्राप्त करते हैं। देहादिक पर संयोगरूप या अशुद्धदशारूप आत्मा को जाने तो उसने आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना, इसलिये उसे आत्मा में लीनतारूप चारित्र नहीं होता। शरीर की क्रिया को अपनी माने 'मैं मनुष्य हूँ'—ऐसा माने, अथवा 'क्रोधादिक होते हैं, वहीं मैं हूँ'—ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। अरे प्रभु! देह तू नहीं है, क्षणिक उपाधिभाव जितना तू नहीं है; धनवानपने में तेरा बड़प्पन नहीं है; तू तो ज्ञानानन्दस्वरूप है; उस ज्ञान-आनंदस्वरूप को पहिचानकर उसमें लीनता कर—यही मोक्षप्राप्ति का उपाय है।

आत्मा उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शनस्वभाव से परिपूर्ण, पुरुषाकार है; ऐसा आत्मा ध्यान करने योग्य है।—ऐसे आत्मा के ध्यान द्वारा राग-द्वेष रहित निर्द्वन्द होनेवाले योगी मुक्ति प्राप्त करते हैं। जैसा अरिहंत भगवान का आत्मा शुद्ध है, वैसा ही मेरे आत्मा का स्वभाव है—ऐसा जानकर, उसके ध्यान द्वारा श्रमण-मुनिवर मुक्ति को प्राप्त होते हैं। इसलिये चैतन्य का ध्यान करो!—ऐसा भगवान जिनदेव ने मुनियों से कहा है।—इसप्रकार मुनियों को तो मोक्ष के कारणरूप चारित्रसहित आत्मसाधना का उपदेश है। अब, जिनसे चारित्रदशा न हो सके—आत्मा में विशेष लीनता न हो सके-ऐसे श्रावकों को सम्यग्दर्शन की दृढ़ता का उपदेश देते हैं। सम्यक्त्व न हो, उन्हें प्रथम तो

सम्यक्त्व ग्रहण करना चाहिये और सम्यक्त्व ग्रहण करके उसे अत्यन्त दृढ़तापूर्वक सुरक्षित रखना चाहिये—ऐसा अब श्रावकों को उपदेश देते हैं।

❀❀❀❀

श्रावक के कर्तव्य का उपदेश

आचार्यदेव आग्रह करते हैं कि—अहो! अब मैं श्रावकों के लिये संसार विनाशक तथा सिद्धिकर—ऐसा उपदेश देता हूँ, उसे हे श्रावकों! तुम सुनो।

गहिऊण य सम्मत्तं मुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंप।
तं झाणे झाइज्जइ सावय! दुक्खक्खयट्ठाए॥८६॥

श्रावकों को क्या करना चाहिये? प्रथम तो सुनिर्मल और मेरु समान निष्कम्प-अचल, दोष रहित सम्यक्त्व ग्रहण करना चाहिये और फिर ध्यान में उसी को ध्याना चाहिये। दु:खक्षय के हेतु सम्यक्त्व को ही ध्याना चाहिये। अर्थात् सम्यक्त्व में जैसे शुद्ध आत्मा का अनुभव हुआ है, वैसे शुद्ध आत्मा को ही ध्याना चाहिये। उस शुद्ध आत्मा की प्रतीति तो ऐसी दृढ़ रखना चाहिये कि तीन लोक में खलबली मच जाये, तथापि श्रद्धा न डिगे। जिस प्रकार वायुवेग से मेरुपर्वत नहीं डिगता, उसी प्रकार मेरुवत् अडिग-निश्चल श्रद्धा करना चाहिये। सर्वप्रथम श्रावकों को सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिये। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावकत्व नहीं होता; इसलिये भगवान ने श्रावकों से कहा है कि प्रथम सम्यक्त्व को अंगीकार करो। उस सम्यक्त्व द्वारा वस्तु स्वरूप की बारम्बार भावना भाना चाहिये। वस्तु स्वरूप की भावना से श्रावक का गृह कार्य सम्बन्धी क्षोभ भी मिट जाता है। जिसने सम्यक्त्व द्वारा वस्तुस्वरूप को नहीं जाना, उसके व्रत-तपादि सच्चे नहीं होते। इसलिये हे श्रावक! दु:खक्षय के लिये निर्विकारी आनंदमूर्ति आत्मा को प्रतीति में लेकर उसी का ध्यान कर! देखो, गृहस्थाश्रम में रहनेवाले श्रावकों को भी आत्मध्यान का उपदेश है। अज्ञानी कहते हैं कि—आजकल निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं हो सकता! वह तो विपरीत प्ररूपणा है। यहाँ तो कहते हैं कि श्रावक को निश्चयसम्यग्दर्शन हो सकता है और वह भी इतना अचल-दृढ़ हो सकता है कि कभी न डिगे। धर्मात्मा गृहस्थाश्रम में भी चैतन्यस्वरूप आत्मा की भावना भाते हैं। अहो! मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, देह का एक रजकण भी मेरा नहीं है; परवस्तु की क्रिया मेरे कारण नहीं होती;—ऐसे वस्तुस्वरूप के चिन्तन से सम्यक्त्वी की आकुलता दूर हो जाती है। इसलिये कहा है

कि हे श्रावको! प्रथम वस्तु स्वरूप जानकर पर से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन प्रगट करो और दु:खक्षय के हेतु उसी को ध्याओ। इस प्रकार श्रावकधर्म या मुनिधर्म —दोनों की नींव सम्यग्दर्शन है; इसलिये भगवान ने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन करने को कहा है।

आत्मा के ज्ञान-आनन्दस्वभाव को श्रद्धा में लेकर सम्यक्त्वी बारम्बार उसका चिंतवन करता है और इस प्रकार आत्मस्वभाव के चिंतन से उसका दु:ख दूर होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! सम्यग्दर्शन तो श्रावकों का परम कर्तव्य है; उस सम्यग्दर्शन की उपासना के बल से वह आठ कर्मों का क्षय करता है—

सम्यक्त्वं यः ध्यायति सम्यग्दृष्टिःभवति सः जीवः।
सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षपयति दुष्टाष्टकर्माणि॥७८॥

जो जीव सम्यग्दर्शन को ध्याता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन द्वारा शुद्ध आत्मा को ध्याता है, वह सम्यग्दृष्टि होता है, और सम्यक्त्वरूप में परिणमित हुआ वह सम्यक्त्व के प्रभाव से दुष्ट आठ कर्मों का नाश कर डालता है।

'श्रवण करे सो श्रावक' अर्थात् भगवान की वाणी में आत्मा का जैसा स्वभाव कहा है, उसका श्रवण करके श्रद्धा करे, वह श्रावक है। जो भगवान के कहे हुए आत्मा का श्रवण भी नहीं करता, वह वास्तव में श्रावक नहीं है। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा के ध्यान से ही सम्यग्दर्शन होता है;—ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करके तत्पश्चात् भी उसी के ध्यान से कर्मों का क्षय होता है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् भी व्रतादि के राग द्वारा कहीं कर्मों का क्षय नहीं होता; सम्यक्त्व के परिणमन से ही कर्म का क्षय होता है। जिस शुद्ध आत्मा के ध्यान से सम्यग्दर्शन हुआ, उसी के ध्यान द्वारा वीतरागी चारित्र प्रगट होकर कर्मों का क्षय होता है। बहिर्मुख रुचि छूटकर अन्तर्मुख स्वभाव की रुचि से उसका अनुभव हुआ, वह सम्यग्दर्शन है।—ऐसा सम्यग्दर्शन, वह श्रावकों का कर्तव्य है।

प्रश्न : जिसे सम्यग्दर्शन न हुआ हो तो उसे क्या करना चाहिये?

उत्तर : उसे भी सम्यग्दर्शन का ध्यान करना चाहिये; अर्थात् सम्यग्दर्शन के विषयभूत जो शुद्ध आत्मा है, उसकी बारम्बार महिमा लाकर उसका ध्यान करना चाहिये;—ऐसे ध्यान से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

प्रश्न : सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् क्या करना चाहिये?

उत्तर : सम्यग्दर्शन के पश्चात् भी उस सम्यग्दर्शन के ध्येयभूत ऐसे आत्मा का ध्यान करना

चाहिये; उसके द्वारा आठों कर्मों का नाश हो जाता है। सम्यग्दर्शन होने पर, जीव के परिणाम ऐसे होते हैं कि उसकी शुद्धता बढ़ती जाती है और कर्मों की निर्जरा होती जाती है। श्रावक को देव-गुरु की पूजादि का भाव अवश्य आता है, किन्तु वह शुभभाव कहीं मुक्ति का कारण नहीं है; मुक्ति का कारण तो सम्यग्दर्शनादि शुद्ध परिणाम ही हैं।

सम्यग्दर्शन का उपाय भी एक ही है कि शुद्ध आत्मा का ध्यान करना। सम्यक्त्व को पहिचान कर उसका ध्यान करना ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय है; मंदराग कहीं सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय नहीं है। '**भूयत्थमस्सिदो खलु सम्मइट्ठी हवइ जीवो**'—भूतार्थ के आश्रय से अर्थात् आत्मा के शुद्ध एकाकार स्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। शुद्ध आत्मा का ध्यान कहो, सम्यक्त्व का ध्यान कहो या भूतार्थ का आश्रय कहो—वही सम्यक्त्व का उपाय है। आत्मा के स्वभाव को जानकर सम्यग्दर्शन-उपरान्त अंतर्मुखलीनता से मुनियों को तो अत्यन्त आत्मगति हुई है, उन्हें तो अत्यन्त वीतरागता हो गई है; और श्रावक को आत्मस्वभाव का ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन होने पर भी अभी उसमें विशेष लीनता नहीं है—मुनियों जैसी उग्र आत्मगति नहीं है, इसलिये उन्हें देवपूजा आदि का शुभराग आता है; इसलिये व्यवहार से श्रावक के वे छह कर्तव्य कहे हैं; किन्तु वास्तव में तो सम्यग्दर्शन प्रगट करके फिर उसी का ध्यान करना, वह कर्तव्य है। लेकिन श्रावक की भूमिका में सर्व राग नहीं छूट सकता, अभी अमुक राग वर्तता है, तथापि उस राग की दिशा बदल गई है, इसलिये भगवान की पूजा, मुनियों की वैयावृत्य आदि का भाव आता है और धर्म की भूमिका में वर्तते हुए, उस राग को भी चरणानुयोग में उपचार से श्रावकों का धर्म कहा है, किन्तु वास्तव में राग, वह धर्म नहीं है। पहले निर्विकल्प चिदानन्दस्वरूप के अनुभवसहित जो सम्यक् प्रतीति हुई, वह सम्यग्दर्शन है, इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन नहीं होता। पश्चात् चैतन्य के उग्रध्यान द्वारा अंतरंग में एकाग्र होने पर मुनिदशा होती है और तत्पश्चात् अप्रतिहत ध्यान की श्रेणी लगाकर लीन होने पर शुक्लध्यान द्वारा चार घातियाकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्रगट होता है। चैतन्य के ध्यान में एकाग्र हुआ, वहाँ सम्यग्दर्शनादि तथा केवलज्ञान सहज ही हो जाता है, वहाँ माँगना नहीं पड़ता। जिसप्रकार आम्रवृक्ष से आम माँगना नहीं पड़ते, उसमें तो आम झूलते ही रहते हैं, उसीप्रकार चैतन्यस्वभाव अनंत गुणरूपी आमों से भरपूर आम वृक्ष है, उसके ध्यान में एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष हो जाता है। इसलिये कहते हैं कि—सम्यक्त्व के ध्यानरूप परिणमन से आठों कर्मों का नाश होता है, इसलिये यह सम्यक्त्व, मोक्ष का प्रधान कारण है। विशेष

क्या कहें ? भूतकाल में जो सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे—वे सर्व उत्तम पुरुष इस सम्यक्त्व के माहात्म्य से ही सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे,—ऐसी सम्यक्त्व की महिमा जानों और उसकी आराधना करो,—ऐसा आचार्यदेव का उपदेश है।

किं बहुना भणितेन ये सिद्धाः नरवराः गते काले।
सेत्स्यंति येऽपि भव्याः तज्जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्यम्॥८८॥

इसकाल अथवा तीनोंकाल में शुद्ध आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता से ही सिद्धि प्राप्त होती है और उसका मूल सम्यक्त्व है, सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो। व्रतादि के शुभराग का माहात्म्य नहीं कहा क्योंकि वह कहीं सिद्धि का मूलकारण नहीं है। सिद्धि का मूलकारण सम्यक्त्व ही है, इसलिये कहा कि जो उत्तमपुरुष तीनों काल मुक्त होते हैं—वह इस सम्यक्त्व का ही महिमा जानो।

अधिक क्या कहें! संक्षेप में ऐसा जानना चाहिये कि यह सम्यक्त्व ही मुक्ति का प्रधान कारण है और वह सम्यक्दर्शन (-निश्चयसम्यग्दर्शन) तो गृहस्थ श्रावक को भी होता है। इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि गृहस्थ को क्या धर्म होगा ? गृहस्थ भी मन-वाणी-देह से पार ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा के ध्यान द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, और श्रद्धा के बल से वह गृहस्थाश्रम से निर्लिप्त रहता है, तथा सम्यक्श्रद्धारूप परिणमित होने पर वह अल्पकाल में स्थिरतारूप चारित्र प्रगट करके केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करता है।—इसप्रकार गृहस्थ का यह सम्यक्त्व धर्म भी धर्म के सर्व अंगों को सफल करता है, इसलिये यह परमधर्म है और उसकी परम महिमा है।

ऐसे सम्यग्दर्शन को जो धारण करते हैं, और उसे शुद्धरूप से बना रखते हैं, वे जीव धन्य हैं—ऐसा अब कहते हैं:—

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं॥८९॥

आनंद की खान ऐसे आत्मा के ध्यान से जिन्होंने सम्यग्दर्शन प्रगट किया और पश्चात् उसे स्वप्न में भी मलिन नहीं होने दिया—वे धन्य हैं। देखो, सम्यक्त्वी को स्वप्न आयें तो वे भी किसी भावलिंगी संत के या मुनि के आते हैं; अथवा मेरा आत्मा, देह से छूटकर मानों सिद्ध भगवन्तों के बीच बैठा है—ऐसे स्वप्न आते हैं। किन्तु स्वप्न भी ऐसा नहीं आता कि वे कुदेवादि का आदर कर रहे हैं। शुद्ध चिदानन्दस्वरूप का अनुभव और उसकी श्रद्धा हुई है; उस श्रद्धा में स्वप्न में भी

मलिनता नहीं आने देते—ऐसे सम्यक्त्वी को आचार्यदेव धन्य कहते हैं। धर्मात्मा को चिदानन्दस्वभाव के अतिरिक्त स्वप्न में भी राग का आदर नहीं होता।—ऐसे सम्यक्त्वी ही जगत में धन्य हैं, वे ही सुकृतार्थ हैं,—करने योग्य उत्तम कार्य उन्हीं ने किया है, वे ही सच्चे मनुष्य हैं —चैतन्यस्वरूप को जिन्होंने यथार्थरूप से माना, वे ही सच्चे मनुष्य हैं। आत्मा की दिव्यशक्ति को श्रद्धा में लेकर उसे प्रगट करने का प्रयत्न करते हैं; इसलिये वे देव हैं, वे ही शूरवीर और पंडित हैं। सम्यक्त्वरहित नर, पशु समान है। आचार्यदेव ऐसा सम्यक्त्व का महात्म्य जानकर उसे अंगीकार करने का प्रधान उपदेश देते हैं।

जिसने चैतन्य की दिव्यशक्ति को श्रद्धा में लिया है, वह कृतार्थ है, बाह्य कार्यों द्वारा आत्मा की कृतार्थता नहीं है। और जिसने सम्यक्त्व प्रगट किया, वही शूरवीर है, उसी ने अपूर्व पुरुषार्थ करके शूरता प्रगट की है। युद्ध में लाखों योद्धाओं को हराकर महान विजय प्राप्त करे, उसे यहाँ शूरवीर नहीं कहते, किन्तु जिसने आत्मस्वभाव की श्रद्धा द्वारा अनादिकालीन मिथ्यात्व मोह का नाश करके सम्यक्त्व प्रगट किया, वही शूर है। लोक में धामधूम से विवाहादि कार्य करे, उसे लोग कृतार्थ कहते हैं, किंतु उसमें आत्मा का किंचित् हित नहीं है, आत्मस्वभाव की लगन लगाकर सम्यक्श्रद्धा करे, वही कृतार्थ है और वह अल्पकाल में सिद्धि प्राप्त करता है। यहाँ बड़े राजा को अथवा करोड़ों का दान करनेवाले को धन्य नहीं कहते, क्योंकि ऐसा तो जीव ने अनन्तबार किया है, उसमें कल्याण नहीं है। जो अनादिकाल में नहीं किया - ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन करके उसे निर्मलरूप से मेरुसमान निश्चल टिका रखते हैं, वे ही धन्य हैं। यहाँ सम्यक्त्व की महिमा बताकर ऐसे कहते हैं कि श्रावकों को ऐसा सम्यक्त्व प्राप्त करके उसे निदोषरूप से टिका रखना चाहिये। यह सम्यक्त्व, श्रावकों का परम कर्तव्य है। यथार्थ देव-गुरु-धर्म क्या और आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या—उसे पहिचान कर सम्यक्श्रद्धा करना चाहिये। अनेक शास्त्र पढ़ले, किंतु यदि शुद्ध आत्मप्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन न करे तो उसे वास्तव में पण्डित नहीं कहते। शास्त्र का सार तो आत्मज्ञान करना है, इसलिये जिसने आत्मस्वभाव को जानकर सम्यग्दर्शन किया, वही सच्चा पण्डित है, तथा वही मनुष्यों में प्रधान है; सम्यग्दर्शनरहित मनुष्य तो पशु समान है।—ऐसी सम्यग्दर्शन की परम महिमा है, तथा वह सम्यग्दर्शन धर्म श्रावाकों के भी होता है, इसलिये श्रावकों को शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रगट करके उसे निश्चलरूप से टिका रखना चाहिये।—ऐसा आचार्यदेव का उपदेश है।●●

दो भाई

[शांति की शोध में]

जिसे अपने आत्मा का हित करना हो, उसे पहले अंतर में खटका जागृत होना चाहिये कि अरे! मेरे आत्मा को किस प्रकार शांति हो? मेरे आत्मा को कौन शरणरूप है!! संत कहते हैं कि यह देह या राग कोई तुझे शरण नहीं है। प्रभो! एक समय में ज्ञानानंद से परिपूर्ण तेरा आत्मा ही तुझे शरण है; उसे पहिचान!

दो सगे भाई एक साथ नरक में हों; एक सम्यक्त्वी हो और दूसरा मिथ्यादृष्टि हो। वहाँ सम्यक्त्वी को तो नरक की घोर प्रतिकूलता में भी चैतन्यानंद का अंशतः वेदन वर्त रहा है... और मिथ्यादृष्टि अकेले संयोगों की ओर देखकर दुःख की वेदना में तड़पता है... अपने भाई से पूछता है कि—'अरे भाई! कोई शरण है!! इस घोर दुःख में कोई सहायक है!!... कोई इस वेदना से छुड़ानेवाला है!!! हाय! कोई नहीं है इस असह्य वेदना से बचानेवाला!!!'

तब सम्यक्त्वी भाई कहता है कि—'अरे बंधु! कोई सहायाक नहीं है; अंतर में भगवान चैतन्य ही आनंद से परिपूर्ण है; उसकी भावना ही इस दुःख से बचानेवाली है। चैतन्य की भावना के बिना अन्य कोई दुःख से बचानेवाला नहीं है—अन्य कोई सहायक नहीं है। यह शरीर और यह प्रतिकूल संयोग—इन सबसे पार चैतन्यस्वरूपी आत्मा है;—ऐसे भेदज्ञान की भावना के अतिरिक्त जगत में दूसरा कोई दुःख से बचानेवाला नहीं है, कोई शरण नहीं है; इसलिये भाई! एकबार संयोग को भूल जा... और अंतर में आनन्दस्वरूप चैतन्यतत्त्व है, उसकी ओर देख! वह एक ही शरण है। पूर्व काल में आत्मा की परवाह नहीं की, पाप करते हुए पीछे मुड़कर नहीं देखा; इसलिये इस नरक में अवतार हुआ... अब तो इसी दशा में हजारों वर्ष की आयु पूरी करना पड़ेगी... संयोग नहीं बदल सकता—अपना लक्ष बदल दे! संयोग से आत्मा पृथक् है, उस पर लक्ष कर। संयोग में तेरा दुःख नहीं है; अपने आनंद को भूलकर तूने स्वयं ही मोह से दुःख उत्पन्न किया है; इसलिये एक बार आत्मा और संयोग को भिन्न जानकर संयोग की भावना छोड़ और चैतन्यमूर्ति आत्मा की भावना कर! मैं तो ज्ञानमूर्ति-आनंदमूर्ति हूँ; यह संयोग और यह दुःख—दोनों से मेरा आत्मस्वभाव पृथक् ज्ञान-आनन्द की मूर्ति है।—इस प्रकार आत्मा का निर्णय करके उसकी भावना करना ही दुःख के

नाश का उपाय है। **चैतन्य की भावना में दु:ख कभी प्रविष्ट नहीं हो सकता।** 'जहाँ कभी दु:ख का प्रवेश नहीं हो सकता, वहीं हमें निवास करना चाहिये।' चैतन्यस्वरूप आत्मा की भावना में आनन्द का वेदन है, उसमें दु:ख का प्रवेश नहीं है... ऐसे चैतन्य में एकाग्र होकर निवास करना ही दु:ख से छूटने का उपाय है। कषायों से संतप्त आत्मा को अपने शुद्धस्वरूप का चिंतन ही उससे छूटने का उपाय है। इसलिये हे बंधु! स्वस्थ होकर अपने आत्मा की भावना कर... उसके चिंतन से तेरे दु:ख क्षणमात्र में शांत हो जायेंगे।

धर्मी जानता है कि—अहो! मेरे चैतन्य की छाया इतनी शांत-शीतल है कि उसमें मोह सूर्य की संतप्त किरणें प्रवेश नहीं कर सकती; कोई संयोग भी उसमें प्रविष्ट नहीं हो सकता; इसलिये मोह जनित विभावों के आताप से बचने के लिये मैं अपने चैतन्यतत्त्व की शांत... उपशांत... आनंदमयी छाया में जाता हूँ... अपने चैतन्यस्वभाव की ही भावना करता हूँ।

[-समाधि शतक, गाथा ३९ के प्रवचन से]

✦✦✦

विकल्प के अभावरूप परिणमन कब होता है?

अनेक जीव विकल्प का अभाव करना चाहते हैं और स्थूल विकल्प कम होने पर ऐसा मानते हैं कि विकल्प का अभाव हुआ। किन्तु वास्तव में विकल्प का अभाव करने पर जिसका लक्ष है, उसके विकल्प का अभाव नहीं होता, किन्तु जिसमें विकल्प का अभाव ही है—ऐसे शुद्ध चैतन्य को लक्ष में लेकर एकाग्र होने से विकल्प का अभाव हो जाता है। मैं इस विकल्प का निषेध करूँ—इसप्रकार विकल्प का निषेध करने पर जिसका लक्ष है, उसका लक्ष शुद्ध आत्मा की ओर नहीं ढला है; इसलिये उसमें तो विकल्प की ही उत्पत्ति होती है। शुद्ध आत्मद्रव्य की ओर ढलना ही विकल्प के अभाव की रीति है। उपयोग का झुकाव अंतर्मुख स्वभाव की ओर होने से विकल्प की ओर का झुकाव छूट जाता है।

'विकल्प का निषेध करूँ'—ऐसे लक्ष से विकल्प का निषेध नहीं होता किन्तु विकल्प की

उत्पत्ति होती है। क्योंकि 'यह विकल्प है और इसका निषेध करूँ'—एक लक्ष किया वहाँ तो विकल्प के अस्तित्व पर जोर गया किन्तु विकल्प के अभावरूप स्वभाव दृष्टि में नहीं आया; इसलिये वहाँ मात्र विकल्प का उत्थान ही होता है। 'यह विकल्प है और इसका निषेध करूँ' —इसप्रकार विकल्प के अस्तित्व की ओर देखने से उसका निषेध नहीं होगा। किन्तु 'मैं निश्चल ज्ञायकस्वभाव हूँ'—इसप्रकार स्वभाव के अस्तित्व की ओर देखने से विकल्प के अभावरूप परिणमन हो जाता है। पहले आत्मस्वभाव का श्रवण-मनन करके उसे लक्ष में लिया हो, उसकी महिमा जानी हो तो उसमें अंतर्मुख होकर विकल्प का अभाव करे। किन्तु आत्मस्वभाव की महिमा लक्ष में लिये बिना किसके असितत्व में खड़ा रहकर विकल्प का अभाव करेगा! विकल्प का अभाव करना, वह भी उपचार कथन है; वास्तव में विकल्प का अभाव करना नहीं पड़ता; किन्तु अंतर स्वभावसन्मुख जो परिणति हुई, वह परिणति स्वयं ही विकल्प के अभावस्वरूप है, उसमें विकल्प है ही नहीं, तो फिर किसका अभाव किया जाये? विकल्प की उत्पत्ति नहीं हुई, उस अपेक्षा से विकल्प का अभाव किया - ऐसा कहा जाता है; किन्तु उस समय विकल्प था और उसका अभाव किया है—ऐसा नहीं है।

एक ओर त्रिकाली ध्रुव ज्ञानस्वभाव का अस्तित्व है और दूसरी ओर क्षणिक विकल्प का अस्तित्व है; वहाँ ध्रुव ज्ञायकस्वभाव में विकल्प का अभाव है। उस ज्ञायकस्वभाव को लक्ष में लेकर एकाग्र होने से विकार के अभावरूप परिणमन हो जाता है। वहाँ 'मैं ज्ञायक हूँ और विकार नहीं हूँ'—इसप्रकार दो पक्षों पर लक्ष नहीं होता; किन्तु 'मैं ज्ञायक'—इसप्रकार अस्तिस्वभाव को लक्ष में लेकर उसका अवलम्बन करने से विकार का अवलम्बन छूट जाता है। स्वभाव की अस्तिरूप परिणमन होने से विकार की नास्तिरूप परिणमन भी हो जाता है। स्वभाव में परिणमित हुआ ज्ञान स्वयं विकार के अभावरूप परिणमित है। उसे स्वभाव की अस्ति अपेक्षा से 'सम्यक् एकान्त' कहा जाता है और स्वभाव की अस्ति में विकार की नास्ति है—इस अपेक्षा से उसी को 'सम्यक् अनेकान्त' कहा जाता है। स्वभाव की अस्ति को लक्ष में लिये बिना (-सम्यक् एकान्त बिना) मात्र विकार की नास्ति को लक्ष में लेने जाये तो वहाँ 'मिथ्या-एकान्त' हो जाता है अर्थात् उसे पर्यायबुद्धि से विकार के निषेधरूप विकल्प में एकत्वबुद्धि हो जाती है किन्तु विकल्प के अभावरूप परिणमन नहीं होता। इसलिये एकमात्र आत्मस्वभाव का ही भलीभाँति अवलम्बन करना, वही विकल्प के अभावरूप परिणमन की रीति है। [चर्चा से]

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ

[१९]

परिणामशक्ति

अहो ! जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, उसे इसी समय यह समझनेयोग्य है। आत्मा को भव से छुड़ाने तथा कल्याण करने की जिसे सच्ची लगन लगी हो, वह अन्य समस्त कार्यों की प्रीति छोड़कर आत्महित का उद्यम करता है;—पहले अन्य कार्य कर लें, फिर आत्मा का हित करेंगे—ऐसी अवधि वह बीच में नहीं डालता। और उसे ऐसी काल की मर्यादा भी नहीं होती कि अमुक दिन के भीतर हो आत्मा समझ में आ जाये तो समझना है, हमारे पास अधिक समय नहीं है। जहाँ रुचि हो, वहाँ काल की मर्यादा नहीं होती। जिसे आत्मा की रुचि हो—सच्ची लगन हो, वह उसके प्रयत्न के लिये कालावधि नहीं बाँधता। और जिसे ऐसी लगन हो, वह अवश्य ही अल्पकाल में आत्महित साध लेता है। जिसे संसार में पैसे की प्रीति है, वह ऐसी अवधि निश्चित् नहीं करता कि अमुक समय में ही पैसा मिलेगा तो लूँगा; वहाँ तो काल की चिंता किये बिना प्रयत्न करता ही रहता है और उसी में सारा जीवन व्यर्थ गँवा देता है। उसी प्रकार जिसे आत्मा की रुचि जागृत हुई है, वह ऐसी कालावधि नहीं बाँधता कि मैं अमुक समय तक ही आत्मा को समझने का प्रयत्न करूँगा; वह तो काल की चिंता किये बिना प्रयत्न करता ही रहता है और उसे अवश्य आत्मा का अनुभव होता है।

आत्मा की रुचि के अभ्यास में जो काल व्यतीत हो, वह भी सफल है। अभी बाहर के व्यापारादि कार्य कर लें, फिर आराम से आत्महित करेंगे—इस प्रकार जो अवधि बाँधता है, उसे वास्तव में आत्मा की लगन नहीं लगी है। अरे, आत्मा की चिंता के बिना अनंतानन्त काल व्यतीत

हो गया, तथापि मेरे भव-भ्रमण का अंत नहीं आया, इसलिये अब तो ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे मेरा आत्मा इस भव-भ्रमण से छूट जाये—इस प्रकार जिसे अंतर से आत्मार्थ जागृत हो, वह आत्महित के प्रयत्न बिना एक क्षण भी नहीं गँवाता, और ऐसा अपूर्व आंतरिक प्रयत्न उदित हो, तभी आत्मा की प्राप्ति होती है। भाई! कोई दूसरा तेरा हित कर दे, ऐसा नहीं है; तू ही अपने स्वभाव का उद्यम करके अपना हित कर! स्वभाव को भूलकर तूने अभी तक परभाव से अपना अहित किया; अब सत्समागम से यथार्थ स्वभाव को समझकर तू ही अपना अपूर्व हित कर।

अभी जो पर का करने के भाव में रुकता है, वह आत्महित का प्रयत्न कहाँ से करेगा? वह आत्मा कहीं पर जीव को बचा नहीं सकता, किन्तु पर को बचाने का शुभभाव करे, वह पुण्य है। उस भाव के कारण पर जीव बच जाये, ऐसा नहीं हो सकता; तथा उस भाव से आत्मा का कोई हित भी नहीं हो सकता; और वह पाप भाव है—ऐसा भी नहीं है। वह मात्र पुण्यबंध का कारण है। जीव-दया के शुभभाव को पाप कहनेवाले तो मूढ़ हैं; उसे धर्म माननेवाले भी मूढ़-अज्ञानी हैं, तथा उस भाव से आत्मा पर का कुछ कर सकता है—ऐसा माननेवाले भी मूढ़-अज्ञानी ही हैं। पर से और पर की ओर के शुभभाव से भी पर ऐसे अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को पहिचाने, वही धर्मी है।

कुछ मूढ़ जीव ऐसा भी मानते हैं कि काल के अनुसार धर्म भी बदलना चाहिये; आजकल आत्मा को समझने का काल नहीं है, आजकल तो देश सेवा के कार्य में लग जाना ही धर्म है। ज्ञानी उससे कहते हैं कि अरे भाई! क्या आजकल तेरा आत्मा मर गया है? आत्मा त्रिकाल है तो उसका धर्म भी त्रिकाल एकरूप वर्तता है। क्या चौथे काल का आत्मा भिन्न प्रकार का और पंचम काल का भिन्न प्रकार का होता है?—नहीं; आत्मा तो वही है, काल के बदलने से कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं बदल जाता; इसलिये चौथे काल में धर्म का जो स्वरूप था, वही वर्तमान में है। 'एक होय त्रण काल मां परमारथनो पंथ'—धर्म का स्वरूप त्रिकाल एक ही है। उसमें किसी काल फेरफार नहीं होता। जैनधर्म को काल की मर्यादा में कैद नहीं किया जा सकता। जैनधर्म तो वस्तु का स्वरूप है अर्थात् आत्मा की शुद्धता, वह जैनधर्म है, आत्मा को काल की मर्यादा में नहीं बाँधा जा सकता; वस्तुस्वरूप का नियम नहीं बदला जा सकता। वस्तुस्वरूप किसी काल विपरीत नहीं होता। चेतनवस्तु जड़ बन जाये अथवा जड़वस्तु चेतन हो जाये—ऐसा किसी काल नहीं होता; तथा जो विकारीभाव हैं, उनसे धर्म हो जाये—ऐसा भी कभी नहीं होता; इसलिये वस्तुस्वभावरूप जैनधर्म को काल की मर्यादा में कैद नहीं किया जा सकता।

आत्मा की सत्ता त्रिकाल है; वह गुणरूप से ध्रुव स्थित रहकर पर्यायरूप से बदलती है।—ऐसे सत्स्वभाव को जिसे श्रद्धा हो, वह समझता है कि मेरे सत् को पर का आश्रय नहीं है;—ऐसा यथार्थ भान होने से परसन्मुख वृत्ति न रहकर स्वभावोन्मुख हो जाती है, इसलिये उसे स्वभाव के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप धर्म होता है।

मूढ़ प्राणी कहते हैं कि पहले संसार सुधार लें, फिर धर्म करेंगे; तो उनसे कहते हैं कि अरे भाई! विकारीभाव ही संसार है; वह संसार तो काले कोयले के समान है; यदि उसे सफेद करना हो तो सुलगा दे... अर्थात् संसार कभी सुधर नहीं सकता, इसलिये स्वभाव के सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आचरण द्वारा विकार को जलाकर तू संसार से छूटकर मोक्ष प्राप्त कर ले।

प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वरूप है, इसलिये उसके स्वभाव से ही उसका परिणमन होता है; किन्तु अज्ञानी जीव, स्वभाव को न देखकर संयोग से ही देखता है; इसलिये संयोग के कारण कार्य हुआ—इस प्रकार वह विपरीत देखता है। यह 'देखत-भूल' ही संसार का मूल है; और वस्तु के यथार्थ स्वभाव को देखना, वह मोक्ष का मूल है। वस्तुस्वभाव को जाने बिना बाह्य से ज्ञान की पहिचान नहीं होती, और यह भी नहीं जाना जा सकता कि ज्ञानी किस प्रकार धर्म करते हैं। इस सम्बन्ध में बन्दर का दृष्टान्त है कि—एक बार कुछ लोगों ने यात्रा करते समय जंगल में डेरा डाला। जाड़े के दिन थे, कड़ाके की ठंड पड़ रही थी; इसलिये आसपास से सूखे पत्ते और घास इकट्ठा करके उसमें चिंगारी रखकर आग जलाई और तापने बैठे। पेड़ों पर बैठे हुए बन्दर यह सब देख रहे थे। उन्हें भी ठंड लग रही थी, इसलिये सोचा कि हम भी इसी तरह आग जलाकर ठंड से बचें। उन्होंने घास-पान तो इकट्ठे कर लिये; लेकिन अब चिंगारी कहाँ से लाएँ? मनुष्यों ने कोई चमचमाती हुई वस्तु रखी थी—ऐसा सोचकर उड़ते हुए जुगनुओं को पकड़ा और घास के ढेर में रखा! इसप्रकार बहुत परिश्रम किया किन्तु बन्दरों ने आग नहीं जला पायी और न उनकी ठंड ही दूर हुई। उसी प्रकार ज्ञानियों ने तो आत्मा में चैतन्य चिंगारी प्रगट की है; अंतर में अतीन्द्रिय स्वभाव की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-रमणता द्वारा उन्हें धर्म होता है और शुभराग के समय वे पूजा-भक्ति-दया दानादि में भी वर्तते हैं। वहाँ अज्ञानी जीव (बन्दरों की भाँति) ज्ञानियों की चैतन्य चिंगारी को तो नहीं पहिचानते और मात्र पूजा-भक्ति, दया-दानादि शुभक्रिया से ज्ञानियों को धर्म होता होगा—ऐसा समझकर स्वयं भी उसी को धर्म मानकर पूजा-भक्ति आदि में वर्तते हैं। ज्ञानी की मात्र बाह्य शुभक्रिया देखकर अज्ञानी उसे धर्म मान लेते हैं; किन्तु चैतन्य चिंगारी को नहीं जानते,

इसलिये उन्हें धर्म नहीं होता। इसप्रकार स्वभाव को न देखकर अज्ञानी संयोग को ही देखते हैं। ज्ञानी को उपदेश का भाव आये और हजारों-लाखों जीवों को हित का उपदेश दें,—वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह दूसरों का भला करते दिखाई देते हैं, इसलिये यही धर्म का उपाय है! किन्तु भाई! तूने जो देखी, वह क्रिया वास्तव में ज्ञानी ने की ही नहीं है, और ज्ञानी ने जो क्रिया की है, उसे तूने देखा ही नहीं है। वास्तव में वाणी या राग की क्रिया के कर्ता ज्ञानी नहीं है; उन्होंने तो अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-रमणता ही की है; और उसी के द्वारा धर्म होता है। इसे समझे बिना मात्र बाह्य क्रिया की नकल करे, वह तो बन्दर की भाँति 'अकल के बिना नकल' है, उसमें धर्म या कल्याण नहीं है।

महावीर भगवान ने साढ़े बारह वर्ष तक तपश्चर्या की—ऐसा कहे, किन्तु यह न जाने कि भगवान के आत्मा ने अंतर में क्या किया—उनकी तपश्चर्या का स्वरूप न जाने; और आहार छोड़कर ऐसा मान ले कि मैंने भी तपश्चर्या की है तो उसमें किंचित् धर्म नहीं है। अहो! भगवान ने तो अंतर के चैतन्यस्वभाव में लीन होकर आनन्द का अनुभव किया था, और उस आनन्द की लीनता में आहार की वृत्ति ही नहीं उठती थी—ऐसी उनकी तपश्चर्या थी। वहाँ अंतर में आनन्द की लीनता हुई, उसे तो मूढ़ जीव देखते नहीं हैं और मात्र बाह्य के आहार त्याग को ही धर्म मान लेते हैं, वह भी उपरोक्त दृष्टान्त की भाँति 'अकल के बिना नकल' है; उसमें धर्म नहीं है।

धर्म की सत्ता आत्मा में है; जिसकी वृत्ति आत्मसन्मुख है, उसे सर्वत्र धर्म होता है; और जिसकी परसन्मुखवृत्ति है, वह चाहे जहाँ हो... वन में हो, मंदिर में हो या साक्षात् भगवान के पास हो... किन्तु उसे धर्म नहीं होता; किन्तु जहाँ गुण भरे हैं, उसमें तो वह देखता नहीं है। अपने में गुण भरे हैं, वहाँ जो दृष्टि नहीं करता, उसे धर्म नहीं होता। अज्ञानी को मिथ्याश्रद्धा के कारण पूर्ण आत्मा ढँक गया है; उसे यथार्थ आत्मा बतलाकर आचार्यदेव आत्मा की प्रसिद्धि कराते हैं, इसलिये इस समयसार की टीका का नाम भी 'आत्मख्याति' (आत्मा की प्रसिद्धि) रखा है।

भाई! तेरा आत्मा ज्ञानलक्षण से प्रसिद्ध है, आत्मा को ज्ञानलक्षणवाला कहने से उस ज्ञान के साथ आनन्दादि अनंत शक्तियाँ साथ ही हैं। उनमें एक परिणामशक्ति भी है; एकसाथ उत्पाद-व्यय-ध्रुवता से आलम्बित, सदृश तथा विसदृशरूप अस्तित्व को आत्मा अपनी परिणामशक्ति द्वारा धारण कर रखता है। इस परिणामशक्ति में 'ध्रुव उपादान' और 'क्षणिक उपादान' दोनों का समावेश हो जाता है। सदृशता अथवा ध्रुवता तो ध्रुव उपादान है और विसदृशता अथवा उत्पाद-व्यय, वह

क्षणिक उपादान है—ऐसी परिणामशक्ति को पहिचानने पर 'निमित्त से कार्य होता है'—ऐसी पराश्रयबुद्धि छूट जाती है तथा स्वभावाश्रित अनंत गुणों का निर्मल परिणमन होता है।—यही सिद्धि का साधन है।

ऐसे अपने आत्मा को पहिचानने का प्रयत्न करना ही प्रत्येक का प्रथम कर्तव्य है। आजकल तो लोग बाह्य में कर्तव्य-कर्तव्य करते हैं। देश का कर्तव्य, कुटुम्ब का कर्तव्य, पुत्र का कर्तव्य, युवकों का कर्तव्य—इस तरह अनेक प्रकार से बाह्य कर्तव्य मनाते हैं और लम्बे-चौड़े भाषण देते हैं; किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि भाई! यह सब बाह्य कर्तव्य तो निरर्थक हैं—व्यर्थ की परेशानी है। इस आत्मा को समझना ही सबका सच्चा कर्तव्य है; उस कर्तव्य का एकबार पालन करे तो मोक्ष प्राप्त हो।

देखो, यह आत्मा का कर्तव्य! बाह्य में कहीं आत्मा का कर्तव्य है? कहते हैं—नहीं; बाह्य का तो आत्मा कुछ कर ही नहीं सकता; तथापि कर्तव्य माने तो वह मिथ्याभिमान है। तेरा स्वदेश तो तेरा आत्मा है, अनंत गुणों से परिपूर्ण असंख्यात प्रदेशी आत्मा ही तेरा 'स्वदेश' है; उसे पहिचानकर उसकी सेवा कर, वह तेरा कर्तव्य है; इसके अतिरिक्त बाहर का देश तो 'परदेश' है, उसमें तेरा कर्तव्य नहीं है। अब, भीतर जो शुभराग होता है, वह तो कर्तव्य है न?—तो कहते हैं कि नहीं; राग भी वास्तव में कर्तव्य नहीं है। राग करता स्वयं है, किन्तु वह कर्तव्य नहीं है; क्योंकि उसमें अपने हित नहीं है। जिसमें अपना हित न हो, उसे कर्तव्य कैसे कहा जा सकता है? अंतर में अपने चैतन्यमूर्ति आनन्द से भरपूर आत्मा को पहिचानकर उसके आश्रय से सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना और इसप्रकार आत्मा को भव दुःख से छुड़ा लेना, वह प्रत्येक जीव का कर्तव्य है।

यह शरीर तेरा नहीं है, शरीर में तेरा कोई कर्तव्य नहीं है, और शरीर तुझे शरण नहीं है। तेरी अनंत शक्ति में राग नहीं है; राग तेरा कर्तव्य नहीं है, और राग तुझे शरण नहीं है। तेरा आत्मा अनंत शक्ति सम्पन्न है, वहीं तेरा स्वरूप है।

उस शक्ति की सँभाल करके उसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना, वह तेरा कर्तव्य है, और वह शक्ति ही तुझे शरणभूत है।

इसलिये उसे पहिचानकर उसकी शरण ले और अपना कर्तव्य पूरा कर। मैं पर का कर दूँ—ऐसी मान्यता में जो रुकता है, वह अपना वास्तविक कर्तव्य चूक जाता है। इसलिये हे भव्य! तू पर का करने की बुद्धि छोड़ और आत्महित में अपनी बुद्धि जोड़। आत्मा की सँभाल कर, उसकी

शरण ले और उसकी शरण में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके अपने आत्मा को भव भ्रमण से छुड़ा... और इसप्रकार अपना कर्तव्य पूरा कर। यह मनुष्यभव पाकर अब आत्मा को भव दुःख से छुड़ाना ही, हे जीव! तेरा कर्तव्य है।

आत्मा अपनी अनंत शक्ति से परिपूर्ण है; उसमें कोई शक्ति कम नहीं है कि दूसरे के पास से ले! और न उसकी कोई शक्ति अधिक है कि दूसरे को दे! आत्मा अपनी शक्ति न तो दूसरे को देता है और न दूसरे के पास से शक्ति लेता है। पर की शक्ति पर में और अपनी शक्ति अपने में। समस्त द्रव्य अपनी-अपनी शक्तियों से परिपूर्ण हैं। अपने ऐसे स्वभाव का निर्णय करें तो पर से लाभ लेने की पराश्रयबुद्धि छूट जाये और अंतरस्वभाव के आश्रय की वृत्ति हो जाये।—इसलिये हे भाई! तू जरा विचार तो कर कि तेरे गुण कहाँ से आते हैं? तेरे गुणों की स्थिरता अथवा दोष दूर होकर निर्मल पर्याय की उत्पत्ति किसी दूसरे के कारण नहीं है, किन्तु तेरे आत्मा के परिणामस्वभाव से ही है। किसी के आधार से तेरे गुण-पर्याय नहीं निभ रहे हैं और तू आधार होकर किसी के गुण-पर्याय को नहीं निभाता है; इसलिये तू किसी अन्य से सन्तुष्ट हो या किसी अन्य को सन्तुष्ट कर दे—ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है; अपने आत्मा का अवलम्बन करके तू स्वयं सन्तुष्ट हो (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्दरूप हो) ऐसा तेरा स्वभाव है। इसलिये अपने आत्मा की निज शक्ति को सँभालकर तू प्रसन्न हो! अपने निजवैभव का अंतर अवलोकन करके तू आनन्दित हो। 'अहो! मेरा आत्मा ऐसा परिपूर्ण शक्तिवान... ऐसा आनन्दस्वभावी है।'—इसप्रकार आत्मा को जानकर सन्तुष्ट हो... हर्षित हो... आनन्दित हो!! जो आत्मा को यथार्थरूप से पहिचान ले उसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता ही है। इसलिये आचार्यदेव आत्मा की अनेक शक्तियों का वर्णन करके कहते हैं कि हे भव्य! ऐसे आत्मा को जानकर तू आनन्दित हो!

—यहाँ उन्नीसवीं परिणामशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

सूत्र के पदों का और पदार्थों के स्वरूप का

निश्चय करने की रीति

'निश्चयनय द्वारा सूत्र के पदों एवं अर्थों का निश्चय होता है'

[यह है शास्त्रों का अर्थ खोलने की कुंजी (मास्टर की)]

(श्री प्रवचनसार गाथा २६८ पर पूज्य गुरुदेव के महत्वपूर्ण प्रवचनों से)

[लेखांक दूसरा]

समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायरूप पदार्थों का जिसे निश्चय हो, उसी को ज्ञातृतत्त्व कहते हैं, वह निश्चय किस प्रकार होता है ?—कि निश्चयनय द्वारा। पर से भिन्न, वस्तु का अपना क्या स्वरूप है—उसका निश्चय निश्चयनय द्वारा होता है। व्यवहार तो लोकोक्ति है, यानी उपचार से बोलने की रीति है, वह कहीं वस्तु स्वरूप नहीं है; इसलिये उससे वस्तुस्वरूप का निश्चय नहीं होता।

प्रत्येक पदार्थ अस्ति-नास्तिरूप है; यानी अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से सत्‌रूप है और पररूप से वह असत् है। इसप्रकार स्व-पर तत्त्वों की भिन्नता के निश्चय द्वारा ज्ञान करना यथार्थ है, और स्व-पर का एक-दूसरे में आरोप करके कहना, सो व्यवहार है, वह असत्यार्थ है—वस्तु स्वरूप नहीं है।

'इन्द्रियादि पर निमित्त से ज्ञान हुआ'—ऐसा कहा जाता है, वहाँ वास्तव में ऐसा नहीं है, क्योंकि निश्चय से इन्द्रियाँ और ज्ञान दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, इसलिये एक के कारण दूसरे में कुछ नहीं होता। यदि एक तत्त्व के कारण दूसरे में कुछ होता है—ऐसा वास्तव में माना जाये तो दो पदार्थों की भिन्नता की प्रतीति नहीं रहती। इसलिये व्यवहार के कथनानुसार वास्तव में वस्तुस्वरूप नहीं है—ऐसा समझकर निश्चयनयानुसार यथार्थ वस्तुस्वरूप क्या है, वह जानना चाहिये।

यदि व्यवहारानुसार ही वस्तुस्वरूप को मान ले और निश्चयनय द्वारा स्व-पर पदार्थों के भिन्न-भिन्न स्वरूप को न पहिचाने तो वह जीव, मिथ्यादृष्टि ही रहता है; और ऐसे जीव को संयम नहीं होता।

संयमी मुनि कैसे होते हैं ?—कि प्रथम तो निश्चयनय द्वारा सूत्र और अर्थ का निश्चय करनेवाले होते हैं। सम्यदृष्टि को चौथे गुणस्थान में भी ऐसा निश्चय होता है। ऐसे निश्चय के उपरान्त जिनके कषाय अतिशयरूप से उपशांत हो गये हों... शांतस्वरूप में स्थिर हो गये हों और चैतन्यस्वरूप में उपयोग की स्थिरता के अति प्रयत्न द्वारा जो अधिक तपवाले हों—इसप्रकार जो सूत्रार्थ निश्चयवंत हों, जिनके कषाय उपशांत हो गये हों और जो अधिक तपवाले हों, वे संयमी मुनि हैं।

देखो, यह मुनि की पहिचान!

निश्चयनय के बिना सूत्र और अर्थों का निश्चय नहीं होता;

सूत्र और अर्थ के निश्चय बिना कषायों का उपशम नहीं होता;

कषायों के उपशम बिना स्वरूप में उपयोग की स्थिरता नहीं होती; और

स्वरूप में एकाग्रता के बिना मुनिदशा नहीं होती।

—इस प्रकार निश्चयनयानुसार तत्त्व का निर्णय करना, वह मूल बात है।

जिस प्रकार अग्नि के सम्पर्क से पानी उष्ण हो जाता है, उसी प्रकार पुण्य ही मोक्ष कारण है—इत्यादि विपरीत मान्यतावाले लौकिकजनों के संग से संयमी मुनि भी असंयत हो जाते हैं; इसलिये उन लौकिकजनों के संग का निषेध है। अग्नि के कारण पानी उष्ण हो जाता है अथवा पर के कारण मुनि, असंयमी हो जाते हैं—यह कथन व्यवहार का है, यानी वास्तव में ऐसा नहीं है। पानी अपनी वैसी योग्यता से गर्म हुआ है, तथा जो मुनि भ्रष्ट होते हैं, वे भी अपनी विकारी परिणति के कारण ही भ्रष्ट होते हैं; चैतन्यस्वभाव के संग से हटकर उनकी परिणति लौकिक संग में रुकी, उसी से असंयतपना है—पर के कारण कुछ नहीं हुआ।—ऐसा शास्त्रों का वास्तविक अर्थ है, तथा ऐसा ही वस्तु स्वरूप है।

अमुक व्यक्ति के आने से मन्दिर या मानस्तंभ का कार्य सुधर गया—ऐसा कहना, सो निमित्त के आरोप का व्यवहार कथन है। दोनों वस्तुएँ पृथक् होने से एक के कारण दूसरी में कुछ नहीं हो सकता—यह निश्चय है; तथापि उनका संयोग देखकर एक के कारण दूसरे में कार्य हुआ—इसप्रकार व्यवहारनय एक-दूसरे में आरोप कर देता है, किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

इन गुरु के प्रताप से ही मैंने धर्म प्राप्त किया, इन्हीं गुरु ने महा अनुग्रह करके मुझे ज्ञान दिया—ऐसा शिष्य, विनय के व्यवहार से कहता है, वहाँ भी निश्चय वस्तुस्वरूप लक्ष में रखकर उस व्यवहार का स्वरूप यथावत् समझना चाहिये।

'निमित्त पाकर कार्य हुआ'—ऐसा जहाँ-जहाँ कहा हो, वहाँ-वहाँ निश्चयनय द्वारा ऐसा समझना चाहिये कि—वास्तव में कार्य तो उपादान से हुआ है, निमित्त से नहीं हुआ। उपादान के कार्य में निमित्त की नास्ति होने पर भी, इससे कार्य का होना कहना, वह उपचार है, यथार्थ वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। जगत् के सभी उदाहरणों में यह नियम लागू कर देना चाहिये।

धर्मी को अपने आत्मा से धर्म हुआ—यह निश्चय वस्तुस्वरूप है।

धर्मी को गुरु उपदेश आदि पर से धर्म हुआ,—यह व्यवहार का कथन है। उसमें निश्चय को यथार्थ और व्यवहार को आरोप जानना चाहिये। सर्व शास्त्रों के कथन का और सर्व पदार्थों के स्वरूप का इस प्रकार निर्णय करना चाहिये।

जहाँ स्व से कथन हो, वहाँ उसे 'सत्य' है—ऐसा समझना।

कर्म के उदय से जीव को विकार हुआ, (व्यवहार,—वास्तव में ऐसा नहीं है।)

अमुक व्यक्ति ने मन्दिर का निर्माण किया, (व्यवहार,—वास्तव में ऐसा नहीं है।)

अमुक शिल्पकार ने भगवान की प्रतिमा बनाई, (व्यवहार,—वास्तव में ऐसा नहीं है।)

अमुक मुनि ने शास्त्र रचना की (व्यवहार,—वास्तव में ऐसा नहीं है।)

स्त्री ने रोटी बनाईए (व्यवहार,—वास्तव में ऐसा नहीं है।)

अग्नि से पानी उष्ण हुआ, (व्यवहार,—वास्तव में ऐसा नहीं है।)

पेट्रोल से मोटर चली, (व्यवहार,—वास्तव में ऐसा नहीं है।)

कुम्हार ने घड़ा बनाया, (व्यवहार,—वास्तव में ऐसा नहीं है।)

इच्छा से शरीर चला, (व्यवहार,—वास्तव में ऐसा नहीं है।)

छतरी के कारण छाया हुई, (व्यवहार,—वास्तव में ऐसा नहीं है।)

—इस प्रकार जितने भी व्यवहार के उदाहरण हैं, उन सबमें 'वास्तव में ऐसा नहीं है'—इसप्रकार समझकर अर्थ करना चाहिये। निश्चय से ऐसा समझना चाहिये कि उस किसी भी पदार्थ का कार्य पर से नहीं हुआ है, किन्तु स्व पर्याय की स्वतंत्रता से ही हुआ है।—यदि ऐसा अर्थ न समझे तो वस्तुस्वरूप का निर्णय नहीं होगा और निश्चय-व्यवहार की गुत्थी नहीं सुलझेगी। जिसे निश्चयनय से पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान नहीं है, उसे सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

देखो; यह जैन शास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति है, और यही पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करने की रीति है।

प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने से ही क्रमबद्ध होती है, यह निश्चय है, अर्थात् वास्तव में ऐसा ही वस्तुस्वरूप है, और निमित्त के कारण पर्याय का होना कहना, वह व्यवहार है, अर्थात् वस्तुस्वरूप वास्तव में ऐसा नहीं है।

जीव, मनुष्यदेह से धर्म प्राप्त करता है अथवा वज्रनाराचसंहनन से केवलज्ञान प्राप्त करता है,—यह व्यवहार का कथन है; वास्तव में शरीर के कारण जीव, धर्म प्राप्त नहीं करता किन्तु अपनी पर्याय से ही प्राप्त करता है।

अमुक औषधि से अमुक रोग मिटता है—इस व्यवहार कथन में भी उपरोक्तानुसार समझना चाहिये।

कर्म की स्थिति घटकर अंतः कोड़ाकोड़ी हो गई, इसलिये जीव, धर्म प्राप्त करने योग्य हुआ;—यह कथन भी व्यवहार से है; निश्चय से जीव स्वयं अपनी पर्याय की योग्यता से धर्म प्राप्त करने योग्य हुआ है—ऐसा समझना।

व्यवहार, वह साधक और निश्चय, वह साध्य—ऐसा कथन शास्त्र में आता है, किन्तु वह किस नय से कहा है ? व्यवहारनय से !—तो उसका अर्थ ऐसा समझना चाहिये कि वास्तव में ऐसा नहीं है। अपने स्वभाव के आश्रय से ही निश्चय साध्य होता है और वहाँ व्यवहार में आरोप करके उसे साधक कहा जाता है, किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है; वास्तव में शुभरागरूप व्यवहार, वह निश्चयमोक्षमार्ग का साधक नहीं है। निश्चय के लक्ष बिना अज्ञानी के सारे अर्थ मिथ्या हैं। व्यवहार का प्रयोजन उस समय मुख्य के साथ रहनेवाली परवस्तु का (संयोग, निमित्त आदि का) ज्ञान कराना है। संयोग तथा निमित्त को देखकर व्यवहारनय उसमें आरोप कर देता है कि 'इससे यह हुआ'—ऐसे व्यवहार के जितने भी उदाहरण हों, उन सबमें इस गाथा की कुंजी (मास्टर की) लगाकर निश्चयनय से क्या स्वरूप है—वह समझ लेना चाहिये। यदि व्यवहारानुसार ही वस्तुस्वरूप मान लिया जाये तो यथार्थ वस्तुस्वरूप का निश्चय नहीं होता।

प्रत्येक आत्मा शक्तिस्वभाव से परिपूर्ण है; प्रत्येक आत्मा में प्रभु होने की शक्ति है; किन्तु 'कर्म ने उसे रोका है'—ऐसा कहना, वह व्यवहार का आरोप है, वहाँ वास्तव में ऐसा नहीं है, किन्तु जीव स्वयं ही पराश्रयरूप विभाव के कारण संसार में भटक रहा है—ऐसा निश्चय से जानना चाहिये।

कभी जीव बलवान और कभी कर्म बलवान—ऐसा इष्टोपदेश में कहा है;—उसमें जब जीव पुरुषार्थ नहीं करता, तब कर्म को बलवान कहा, वह व्यवहार से कहा है; निश्चय से उसका

ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि वास्तव में जीव में कर्मों का जोर नहीं है; कर्मों ने जीव को नहीं रोका; किन्तु जीव अपने विपरीत पुरुषार्थ से रुका है।—इसप्रकार निश्चयनय द्वारा पदार्थ का निश्चय करे, तभी सम्यग्ज्ञान होता है।

आहार में ध्यान न रखने से शरीर बिगड़ा, तथा सात्त्विक आहार से परिणाम सुधरते हैं;—यह कथन भी व्यवहार का है, अर्थात् वास्तव में ऐसा नहीं है। देखो, यह कलम ऊपर उठी, वह हाथ से ऊपर उठी है—ऐसा कहना, व्यवहार है; किन्तु यदि तदनुसार ही वस्तुस्वरूप मान ले तो वह मिथ्यादृष्टि है। हाथ से कलम ऊपर उठी—ऐसे व्यवहार कथन का अर्थ ऐसा समझना चाहिये कि वास्तव में तदनुसार नहीं है; हाथ से कलम ऊपर नहीं उठी है, किन्तु कलम की पर्याय की ही वैसी शक्ति है।—इसप्रकार निश्चयानुसार वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिये। व्यवहार के कथन द्वारा वस्तुस्वरूप का निर्णय नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह तो एक का दूसरे में आरोप करके कहता है।

सिद्ध भगवान अलोक में क्यों नहीं जाते?—कि 'धर्मास्तिकाय अभावात्।' धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण भगवान वहाँ (अलोक में) नहीं जाते;—यह कथन व्यवहार का है। निश्चय से ऐसा समझना चाहिये कि लोक में ही रहने की आत्मा की योग्यता है, इसलिये वे अलोक में नहीं जाते।

सूखे आहार से ब्रह्मचर्य की दृढ़ता रहती है,
सूर्य का उदय होने से कमल खिलता है,
आहार के अनुसार परिणाम बिगड़ते या सुधरते हैं,
लाल-काले रंग के कारण स्फटिक लाल-काला परिणमित होता है,
पेड़ के पत्ते हवा से हिलते हैं,
वृक्ष के कारण परछाईं पड़ती है,
वृक्ष के हिलने से परछाईं हिलती हैं,
ध्वज के फरफराने से उसकी परछाईं फरफराई,
वायुयान के चलने से उसकी परछाई नीचे पड़ती है,
सम्मेदशिखर तीर्थ के कारण भक्ति का शुभभाव हुआ;

—ऐसे जो व्यवहार कथन के हजारो-लाखों उदाहरण हैं, उन सबमें ऐसा समझना चाहिये कि वह कथन आरोप का है; एक पदार्थ के कारण दूसरे में कुछ होता है—ऐसा कहना, सो आरोप

कथन है, अर्थात् वस्तुस्वरूप वैसा नहीं है। वहाँ निश्चयनय लागू करके भिन्न-भिन्न वस्तुस्वरूप को समझ लेना चाहिये।

जो निश्चयनय के अनुसार वस्तुस्वरूप को समझता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

जो व्यवहारनय के अनुसार ही वस्तुस्वरूप को मान लेता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

वस्तु की पर्याय अपने से ही हुई—ऐसा जानना वह यथार्थ है।

वस्तु की पर्याय पर के कारण हुई—ऐसा जानना यथार्थ नहीं है।

यह उपादान-निमित्त की स्वतंत्रता की बात जगत् में ढ़िढोरा पीटकर घोषित करने योग्य है। निश्चय-व्यवहार के अर्थ समझने के लिये यह पद्धति अत्यन्त आवश्यक होने से नि:शंक घोषित करने योग्य है।

देखो, यह हितोपदेश! सर्वज्ञ भगवान हितोपदेशी हैं और यही उनका हितोपदेश है; क्योंकि यह समझ ले, तभी स्वसन्मुखता होती है और स्वसन्मुखता करे, तभी हित होता है। यदि निश्चयनयानुसार वस्तुस्वरूप को जानकर पर से भिन्नत्व और स्व में एकत्व (एकत्व — विभक्तपना) करे, तभी जीव का हित होता है। इसलिये जो जीव इसप्रकार समझे, वही सर्वज्ञ-वीतरागदेव के हितोपदेश को समझा है और उसी का हित होता है। अकेले व्यवहारानुसार ही वस्तुस्वरूप को मान ले तो हित नहीं होता। इसलिये जिसे अपना हित करना हो, उसे भगवान के कहे हुए शास्त्रों का अर्थ और वस्तु का स्वरूप इसप्रकार निश्चयनय द्वारा समझना चाहिये।

भव-भ्रमण के अंत का उपाय

(वढवाण सिटी : २४-४-५४ प्रातःकाल, समयसार गाथा-१३)

यह जीव स्वयं अपने स्वभाव-सन्मुख दृष्टि नहीं करता, इसलिये भव-भ्रमण होता है; यदि चैतन्यस्वभाव को पहिचानकर उसकी दृष्टि करे तो अल्पकाल में भव-भ्रमण का नाश हो जाता है; इसलिये बारम्बार इस बात का श्रवण-मनन करके चैतन्यस्वभाव की पहिचान करना चाहिये। जब तक आत्मा की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव न हो, तब तक सत्समागम से बारम्बार चैतन्यस्वभाव का श्रवण-मनन और भावना करते ही रहना चाहिये। भगवान! अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति करने पर तुझे अपूर्व सम्यग्दर्शन होगा—अपूर्व आत्मशांति प्रगट होगी और तेरे भव-भ्रमण का अंत आ जायेगा।

इस शरीर में विद्यमान चिदानंद आत्मा का क्या स्वरूप है—उसे अंतर में जाने बिना शांति अथवा धर्म नहीं होता। पुण्य-पाप की वृत्तियाँ होती हैं, वे आत्मा के चिदानंदस्वरूप से विरुद्ध हैं—यह बात पूर्व काल में एक क्षण भी नहीं जानी। जिस प्रकार दर्पण में बर्फ या अग्नि ज्ञात हो, वहाँ दर्पण कहीं उस बर्फ या अग्नि के साथ एकमेक नहीं हो गया है; उसी प्रकार पुण्य या पाप की वृत्ति हो, वह आत्मा के ज्ञान में ज्ञात होती है, किन्तु आत्मा के साथ वे पुण्य-पाप एकमेक नहीं हो गये हैं; ज्ञान, पुण्य-पाप से पृथक् है;—ऐसे भिन्न ज्ञानस्वभाव का भान करना, वह प्रथम धर्म है; ऐसे आत्मभान के बिना धर्म नहीं होता और न भव-भ्रमण दूर होता है।

भगवान आत्मा अंतर में ज्ञान-आनन्द शक्ति का पिण्ड है; उसी के अवलम्बन से आत्मा को शांति और धर्म होता है। शरीर तो भिन्न वस्तु है; उसके अवलम्बन से धर्म नहीं है। शरीर को आहार मिले और अनुकूलता हो तो धर्म होता है—ऐसा अज्ञानी मानते हैं; किन्तु भाई! शरीर तो भिन्न—जड़ वस्तु है; उसमें तेरा धर्म नहीं भरा है। अंतर में शरीर से भिन्न चैतन्यतत्त्व है; उसे राग का भी अवलम्बन नहीं है; चैतन्यतत्त्व में अपनी प्रभुता की शक्ति भरी है; उसी में से प्रभुता आयेगी। भगवान! तुझे अनंत काल में दुर्लभ यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ; अब सत्समागम से अपने आत्मा में चैतन्य प्रभुता की झंकार जागृत न की और पुण्य-पाप के विभाव में ही धर्म मानकर रुक गया तो उसमें अपूर्व आत्महित की प्राप्ति नहीं होगी। भगवान! शुद्ध सम्यग्ज्ञान द्वारा अपने ज्ञानानन्दस्वरूप

आत्मा को जानने पर तुझे अपूर्व सम्यग्दर्शन होगा, अपूर्व शांति प्रगट होगी, और तेरे भवभ्रमण का अंत आ जायेगा।

चैतन्यस्वभाव में अतीन्द्रिय आनन्द भरा है; उसे भूलकर जो विकृत अवस्था हुई, वह दुःख है। दुःख किन्हीं बाह्य संयोगों में नहीं है। शरीर में भूख लगे या कोई रोग हो, वह जड़ की दशा है, उसमें कहीं दुःख नहीं है; किन्तु उस जड़ की पर्याय होने पर—'मुझे दुःख हुआ'—ऐसी जो असत् मान्यता है, वही दुःख तथा संसार परिभ्रमण का मूल है। बाह्य संयोग या वियोग तो आत्मा से सदैव पृथक् ही हैं, उनका कर्त्ता आत्मा नहीं है, और न उनके कारण आत्मा को सुख-दुःख है, वे पर वस्तुएँ आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय हैं और आत्मा तो स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभावी है, वह स्वतंत्र अनादि-अनंत वस्तु है। किसी ने उसे बनाया नहीं है, परिभ्रमण नहीं कराया है, औन न कोई उसे तार सकता है। यदि कोई दूसरा इस आत्मा को तारे तो आत्मा पराधीन हो जाता है। आत्मा अपनी ही भूल से भटका है और चैतन्य के भान द्वारा स्वयं ही अपना तारणहार है। जैनत्व का अर्थ क्या? —जैन कुल में जन्म लेने से जैन कहलाने लगे, वह सच्चा जैनत्व नहीं है; किन्तु मैं ज्ञानानन्द स्व-पर प्रकाशक हूँ, विकार का एक अंश भी मेरा नहीं है—ऐसे सम्यक् भान द्वारा अनादि कालीन विपरीत रुचि को जीते, अर्थात् उस विपरीत रुचि का नाश करे, उसका नाम सम्यक्दर्शन है और वही प्रथम जैनत्व है। यह तो जैनत्व के प्रारम्भ की बात है; ऐसी यथार्थ प्रतीति के बिना जैनत्व यथार्थ नहीं होता। बाह्य में पुण्य के संयोग का ठाटबाट हो, जड़ की क्रिया उसके अपने कारण होती हो, तथा पुण्य-पाप की वृत्तियाँ भी वर्तती हों, तथापि उस समय धर्मी को उन सबसे भिन्न चिदानंदस्वभाव का अंतर में भान है। आत्मा का भान होने के पश्चात् धर्मी को पुण्य का फल होता ही न हो—ऐसा नहीं है। पुण्य और पुण्य का फल होता है, किन्तु धर्मी को उसमें कहीं एकत्वबुद्धि नहीं है, उसमें कहीं आत्मा की शांति नहीं मानते, अंतर में भिन्न चिदानन्द वस्तु की ही रुचि है। चैतन्य वस्तु में मेरा वास है; अनंत गुण के पिण्ड में आत्मा का प्रस्थान किया है और बाह्य में से रुचि उड़ गई है—ऐसे धर्मी बाह्य संयोगों में स्वप्न में भी सुख नहीं मानते।

देखो, चैतन्यस्वभावी आत्मा बाह्य संयोगों से पृथक् है; संयोग की अनुकूलता कोई गुण नहीं है और प्रतिकूलता कोई दोष नहीं है। सधनता कोई गुण नहीं है और निर्धनता कोई दोष नहीं है; किन्तु 'मैं धनवान'—ऐसा अभिमान और 'मैं निर्धन'—ऐसी दीनता, वही दोष है। इसी प्रकार बाह्य में प्रतिष्ठा होना, वह कोई गुण नहीं है और अप्रतिष्ठा होना कोई दोष नहीं है, शरीर में निरोगता होना कोई गुण नहीं है और रोग होना कोई दोष नहीं है, किन्तु शरीर में कुछ होने पर 'यह मुझे हुआ'

—ऐसी जो शरीर के साथ एकत्वबुद्धि है, वही दोष है। अंतर में देहादि से पार मैं चिदानन्दमूर्ति हूँ, मुझमें मेरी प्रभुता भरी है—ऐसा लक्ष करके चैतन्यस्वभाव की प्रतीति करना, वह अपूर्व गुण है; वही धर्म का प्रारम्भ है। प्रथम बात लक्ष में तो ले! भगवानपना अंतर में है, उसी में से प्रगट होगा, बाह्य से नहीं आयेगा। जो पुण्य-पाप की वृत्ति उठती है, वह भी क्षणिक नाशवान है, उसमें से चैतन्य की प्रभुता नहीं आ सकती। वे पुण-पाप की वृत्तियाँ ज्ञान के साथ एकमेक नहीं हो गई हैं, किन्तु भिन्न हैं। मैं ज्ञान हूँ—ऐसी शुद्ध ज्ञान की अन्तर्दृष्टि करना, सो धर्म है। ऐसा धर्म होने पर भी निचली भूमिका में पुण्य-पाप की वृत्तियाँ भी होती हैं; धर्मी होने पर वे वृत्तियाँ बिल्कुल न हों—ऐसा नहीं होता। पुण्य-पाप की वृत्तियाँ होती है; किन्तु धर्मी की श्रद्धा पलट गई है, मैं पुण्य-पाप से पार चिदानंद तत्त्व हूँ—ऐसी प्रतीति धर्मी को हो चुकी है। पुण्य तथा पाप दोनों आस्रव हैं, वह मेरे आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। वे आस्रव ज्ञेयरूप से मेरे ज्ञान में ज्ञात होते हैं, किन्तु मेरे ज्ञान के साथ उनकी एकता नहीं है।—ऐसा चैतन्य का अंतर भान करना, वह अपूर्व है, तथापि स्वभाव के प्रयत्न से वह हो सकता है, इसलिये सुगम है। संयोग में सुख मानकर उसे अपना बनाने के लिये अनादिकाल से प्रयत्न कर रहा है, किन्तु एक रजकण भी उसका नहीं हुआ। यदि सत्समागम से चिदानन्दस्वभाव की प्रतीति-पहिचान करने का यथार्थ प्रयत्न करे तो अपूर्व आत्मभान हुए बिना न रहे, इसलिये वह सुगम है। अपने स्वभाव की प्राप्ति करना तो सरल है और परवस्तु कभी अपनी नहीं हो सकती; इसलिये हे भाई! तू अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की सँभाल कर! कभी उसकी दरकार नहीं की, इसलिये वह कठिन मालूम होता है; किन्तु यदि आत्मा की दरकार करके प्रयत्न करे तो समझ में आ सकता है। भाई! तुझे अनंत काल के इस परिभ्रमण का अंत लाना हो और आत्मा की अतीन्द्रिय शांति का अनुभव करना हो तो उसकी यह रीति है। आत्मा का अपूर्व भान होने के पश्चात् धर्मी को भगवान के प्रतिष्ठा महोत्सवादि का भाव आता है, किन्तु वह जानता है कि यह शुभराग है—आस्रव है। मेरे चैतन्य का स्वभाव इस राग से पार है। राग का ज्ञान होता है किन्तु उसके साथ एकताबुद्धि नहीं होती। यदि राग को जाने ही नहीं, तो वह ज्ञान भी मिथ्या है और उसे धर्म माने तो वह ज्ञान भी मिथ्या है। धर्मी को राग होता है, किन्तु उसे वह रागरूप ही जानता है, उसमें धर्म नहीं मानता; उसे राग और ज्ञान की भिन्नता का भेदज्ञान वर्तता है;—ऐसा अपूर्व भेदज्ञान करना, सो धर्म है। ऐसे भेदज्ञान के बिना धर्म नहीं हो सकता।

देखो, इसका बारम्बार श्रवण-मनन करने में कहीं पुररुक्तिदोष नहीं है; जिसे जिसकी रुचि हो, वह उसी की भावना बारम्बार भाता है। जब तक आत्मा की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव न

हो, तब तक सत्समागम से बारम्बार चैतन्यस्वभाव की बात का श्रवण-मनन और भावना करते ही रहना चाहिये। चैतन्यस्वभाव को पहिचानकर स्वभावसन्मुख दृष्टि करे तो अल्पकाल में भवभ्रमण का नाश हो जाता है; इसलिये बारम्बार इस बात का श्रवण-मनन करके चैतनयस्वभाव की पहिचान करना चाहिये।

अनंत काल में जीव ने सब कुछ किया, परन्तु अपने चैतन्यस्वभाव की महिमा को कभी नहीं जाना। चैतन्य की प्रभुता की महिमा चूककर बाह्य संयोगों तथा पुण्य की महिमा में रुक गया है, किन्तु प्रभुता की शक्ति अपने आत्मा में भरी है, उसका विश्वास या महिमा नहीं की। इसलिये आचार्य भगवान कहते हैं कि—हे भाई! नवतत्त्वों में तेरा शुद्ध जीवतत्त्व कितना है, उसे तू जान! नव तत्त्वों को पहिचानकर उनमें से, शुद्धनय द्वारा अपने अखंड चैतन्यतत्त्व को लक्ष में लेकर उसकी प्रतीति कर।—ऐसी शुद्धात्मा की प्रतीति करना, सो अपूर्व सम्यग्दर्शन है, वही धर्म का प्रारम्भ है तथा वही भवभ्रमण को नाश करने का मूल उपाय है।

❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀

हे जीव! तू आनंद का भोक्ता बन।

अपने स्वभाव में अर्न्तमुख होकर आनंद का उपभोग करना आत्मा का स्वभाव है, किन्तु हर्ष या शोकरूप विकार का उपभोग करने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। किंचित् प्रतिकूलता आये या चिंता हो वहाँ तो, अरे रे! मेरा आत्मा चिंता के बोझा से दब गया!—ऐसा अज्ञानी को लगता है.... उससे ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! चिंता से दब जाये—ऐसा तेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है। तेरे आत्मा का ऐसा अभोक्ता स्वभाव है कि वह चिंता के परिणाम को न भोगे... इसलिये तू आकुल-व्याकुल न हो.... चिंता के अभोक्ता—ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव को लक्ष में ले। ज्ञान स्वभाव के लक्ष से तुझ ज्ञाता परिणाम के अनाकुल आनन्द का वेदन होगा; उस आनंद का भोक्ता होना ही तेरा स्वभाव है। ज्ञानी को भी कभी-कभी चिन्ता-परिणाम होते हैं, किन्तु ऐसे आनंद-स्वभाव के वेदन की अधिकता में उन्हें कभी चिंता की अधिकता नहीं होती; इसलिये आकुलता नहीं होती, शंका नहीं होती; इसलिये सचमुच वे ज्ञानी चिंता या हर्ष के भोक्ता नहीं हैं; उसका भोक्तृत्व उनके विलय हो गया है; उन्हें तो आनंद का ही भोक्तृत्व है।—ऐसा समझकर हे जीव! तू भी अन्तर्मुख होकर आनन्द का भोक्ता बन!

ज्ञानी स्थापित करता है और अज्ञानी उन्मूलन करता है

क्रिया को स्थापित कौन करता है ?

१- शारीरिक क्रिया पुद्गलपरमाणुओं की अवस्था है, और परमाणु स्वतंत्रतया परिणमित होते हैं, अर्थात् वे शारीरिक अवस्थारूप होते हैं। आत्मा वास्तव में उसका कर्ता नहीं है। इस प्रकार ज्ञानीजन ही शारीरिक क्रिया को यथावत् स्थापित करते हैं।

२- पुण्य क्रिया, जीव का विकारभाव है। उस क्रिया से आत्मा का अविकारी धर्म प्रगट नहीं होता, तथा वह क्रिया धर्म में सहायक नहीं होती। इस प्रकार ज्ञानीजन ही पुण्य की क्रिया को पुण्य की क्रिया के रूप में स्थापित करते हैं।

३- आत्मा की अविकारी क्रिया धर्म है, वह क्रिया आत्मा के ही अवलम्बन से प्रगट होती है, उसमें किसी दूसरे का अवलम्बन नहीं है, तथा पुण्य की क्रिया से वह अविकारी क्रिया प्रगट नहीं होती। इस प्रकार ज्ञानीजन ही अविकारी क्रिया को भलीभाँति स्थापित करता है।

क्रिया का उन्मूलन कौन करता है ?

१- शारीरिक क्रिया, आत्मा के द्वारा होती है, वह अपने आप-स्वतंत्र नहीं होती; ऐसा मानकर अज्ञानीजन ही शरीर की स्वतंत्र क्रिया का उन्मूलन करते हैं; क्योंकि वे पुद्गल परमाणुओं की स्वतंत्र क्रिया को स्थापित नहीं करते।

२- पुण्य-क्रिया अर्थात् शुभरागरूप विकारी क्रिया से धर्म होता है, अथवा उसके करते-करते धर्म होता है - यह मानकर अज्ञानीजन ही पुण्य की क्रिया का उन्मूलन करते हैं क्योंकि पुण्य, विकारी क्रिया है, तथापि वे उसे विकारी क्रिया के रूप में स्थापित नहीं करते।

३- आत्मा की अधिकारी क्रिया, पुण्य करते-करते होती है अथवा उसके लिये कोई परावलम्बन आवश्यक है - ऐसा मानकर अज्ञानीजन ही अविकारी क्रिया का उन्मूलन करते हैं क्योंकि - पुण्य की अपेक्षा से रहित निरावलम्बी अविकारी क्रिया को वे स्थापित नहीं करते।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२॥)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	।)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७-८-१० वर्ष	३।।।)
द्वितीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ
लेने वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।